समकालीन हिंदी कहानी में स्त्री विमर्श
संदर्भ : 'देह देहरी'

(एम. फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध)

शोध–निर्देशक

डॉ. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधकर्ता

वीना सुमन

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली–110067

2005

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 18/07/ 2005

DECLARATION

I declare, that the work done in this dissertation entitled - " *'SAMKALEEN HINDI KAHANI MEIN ISTRI VIMARSH (REFERENCE : 'DEH-DEHRI', ED. BY CHITRA MUDGAL)*" by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

वीना सुमन
Name: **VEENA SUMAN**
(Research Scholar)

DR. DEVENDRA KUMAR CHOUBEY
(Supervisor)
Centre of Indian Languages, School of Language, Literature and Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

M. S. H
PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(Chairperson)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL.: (91-011) 26107676, 26167557 Extn.: 2217, Fax: (91-011) 26165886, 26106025

आटा पीसने वाली लड़कियों,
अब उस हाथ को विश्राम करने दो,
जिस से तुम चक्की पीसती हो,
और धीरे से सो जाओ!

मुर्गा बांग देकर सूरज निकलने का ऐलान करे
तो भी मत उठो!

देवी ने अप्सराओं को लड़कियों का काम करने का आदेश दिया है,
और अब वे पहियों पर हल्के–हल्के उछल रही हैं
जिससे उनके धुरे आरों समेत घूम रहे हैं
और चक्की के भारी पत्थरों को घुमा रहे हैं।
आओ अब हम भी अपने पूर्वजों का–सा जीवन बिताएँ
काम बंद करके आराम करें
और देवी की शक्ति का लाभ उठाएँ

(काल मार्क्स, पूँजी, प्रथम खण्ड)

↓
संतीपेलोस

अनुक्रमणिका

भूमिका i-iv

पहला अध्याय
स्त्री–विमर्श और हिंदी कहानी की परंपरा 1–41

1.1 स्त्री–विमर्श का अर्थ
1.2 समाज में स्त्री की जगह
1.3 हिंदी में स्त्री–लेखन और कहानी की दुनिया

दूसरा अध्याय
स्त्री जीवन : दशा और दिशा 42–63

2.1 परिवार में स्त्री
2.2 समाज में स्त्री

तीसरा अध्याय
देह के साथ खिलवाड़ 64–91

3.1 स्त्री–देह और परिवार
3.2 स्त्री–देह और समाज
3.3 देह की राजनीति
3.3.1 स्त्री–देह की संरचना
3.3.2 उत्पीड़क की मानसिकता और उत्पीड़ित की मनःस्थिति

उपसंहार 92–97

संदर्भ ग्रंथ सूची 98–103

आधार ग्रंथ
सहायक ग्रंथ
पत्र–पत्रिकाए

भूमिका

आज के परिवेश में नारी की स्थिति क्या है? क्या वह पूर्णतः स्वतंत्र है या अभी भी अपने पारंपरिक संस्कारों में आबद्ध है? क्या अभी वह अपनी अस्मिता की पहचान बना पाई है? इन्हीं सब सवालों ने मेरे मन को उद्वेलित किया और साथ ही मेरे समाजार्थिक–सांस्कृतिक परिवेश में गाँव, नगर, समाज में मैंने देखा कि स्त्रियों को लोग. महज अपनी सुविधा के लिए उपयोग करते हैं। पिता के घर उसे यह संस्कार बचपन से ही दिया जाने लगता है कि तेज मत चलो, धीरे बोलो, तुम्हें दूसरे के घर जाना है आदि–आदि और जब वह अपने पति के घर जाती है तो वहाँ लोग उससे अनेकों अपेक्षाएँ पालने लगते हैं। जैसे – घर की साफ–सफाई करना, सभी के लिए खाना बनाना, सभी का आदर करना, परिवार के सदस्यों के खाने के बाद खाना और उनके सो कर उठने से पहले उठना। इस सारी प्रक्रिया के दौरान यदि उससे कोई भूल हो जाती है तो परिवार के सभी सदस्यों के द्वारा उसे प्रताड़ित भी किया जाता है। अपने आस–पास के परिवारों में स्त्रियों की ऐसी दयनीय स्थिति के बीच मेरा बचपन बीता। शिक्षा के क्रम में छठी क्लास से मुझे अलग–अलग छात्रावासों में रहने का मौका मिला, जिससे मुझे कई लड़कियों से उनकी दादी, चाची, माँ और आस पड़ोस के परिवार में स्त्री की स्थिति को लेकर कई कहानियाँ और अनुभव सुनने को मिले। साथ ही आए दिन समाचार पत्रों में महिलाओं के शोषण को लेकर कई ऐसी घटनाएँ पढ़ने को मिलीं, जिनसे मेरी सोच को एक दिशा मिली।

एम.फिल. के शोध प्रबंध के चुनाव के दौरान चित्रा मुद्गल द्वारा संपादित कहानी संग्रह 'देह देहरी' की कहानियों में 'यौन–उत्पीड़न' की समस्या की सर्वव्यापकता ने स्त्री–पुरुष संबंधों और समाज में स्त्रियों के यौन–उत्पीड़न की समस्या पर शोध करने का निर्णय लेने के लिए प्रेरित किया। वैसे इस विषय पर लिखने के लिए मेरे शोध निर्देशक आदरणीय डा. देवेन्द्र चौबे का प्रोत्साहन भी अधिक काम आया।

इस पुरुष–प्रधान समाज में नारी को अभी भी अस्मिता की लड़ाई लड़नी पड़ रही है, लेकिन क्या वह पूर्णतः सफल हो पाई है? आज के इस नये परिवेश में उसकी सुप्त आकांक्षाएँ जाग उठी हैं। मध्य वर्ग की नारी जहाँ अपनी प्रतिभा को विकसित करना चाहती है, वहीं उसे पारिवारिक संघर्षों को भी झेलना पड़ता है। नारी जहाँ सदियों से पुरुष की मात्र चेरी बन कर रही है, उसके प्रत्येक कार्य को अभी तक निम्न दृष्टि से देखा गया है। आज नारी की सामाजिक स्थिति बदली अवश्य है। किंतु आज की व्यवस्था में उसे अलग प्रकार के संघर्ष को झेलना पड़ रहा है, उसको अपनी पहचान बनाने के लिए जीवन के प्रत्येक स्तर पर जूझना पड़ रहा है। चाहे वह परिवार के अंदर हो या परिवार के बाहर समाज में। सदियों के दबाव में नारी इतनी शोषित हो गई है कि उसे आज अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ना भी व्यर्थ का प्रश्न लगता है। यह प्रश्न सभी वर्ग की महिलाओं के संदर्भ में नहीं उठता। लेकिन अधिकतर नारियाँ अपनी स्थिति से इतना अधिक समझौता कर लेती हैं कि उन्हें अपने शोषण का एहसास ही नहीं होता।

वास्तव में स्त्री समाज की अनेक मुश्किलें हैं, समस्याएँ हैं। उन्हीं समस्याओं और मुश्किलों में 'देह' भी शामिल हैं। 'देह देहरी' की कहानियाँ स्त्री–जीवन की इन्हीं मुश्किलों का बयान करती हैं और उन समस्याओं पर विचार करने का प्रस्ताव करती हैं जिन्हें स्त्रियाँ अपनी 'देह' को लेकर उठाती हैं। जाहिर है यौन–उत्पीड़न इनमें सबसे प्रमुख है। यह संग्रह भी स्त्री–जीवन के इसी सबसे बड़े यथार्थ से हमें परिचित कराता है।

इस लघु शोध–प्रबंध को मैंने तीन अध्यायों में बांटा है। पहला अध्याय 'स्त्री–विमर्श और हिंदी कहानी की परंपरा' को तीन उप–अध्यायों में विभक्त किया है, जो स्त्री–विमर्श के अर्थ और परंपरा को स्पष्ट करते हुए समाज में स्त्री की जगह और कहानी विधा में स्त्री–लेखन की परंपरा पर आधारित है।

दूसरा अध्याय 'स्त्री जीवन : दशा और दिशा' में 'देह देहरी' की उन कहानियों को लिया गया है जिनमें यौन–उत्पीड़न के अतिरिक्त अन्य तरह के वैसे उत्पीड़नों को दिखाया गया है जो उसके वर्तमान को निर्धारित करते हैं। इस शोध को दो उप–अध्यायों में विभक्त किया गया है जिसमें परिवार और समाज में किस

प्रकार स्त्री मानसिक रूप से उत्पीड़न का शिकार होती है और इस प्रक्रिया से गुजरने के दौरान उसे जिस असहयोग और पारिवेशिक यंत्रणा का सामना करना पड़ता है, 'देह देहरी' की कहानियों के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

तीसरा अध्याय 'देह के साथ खिलवाड़' में समाज और परिवार में यौन–उत्पीड़न की प्रत्यक्ष घटनाओं पर आधारित कहानियों पर बात की गई है। इस अध्याय को *तीन* उप–अध्यायों में बाँटा गया है। इनमें मैंने समाज और परिवार में स्त्री के दैहिक शोषण को 'देह देहरी' की कहानियों के द्वारा दिखाते हुए, स्त्री की देह को लेकर एक प्रकार की अप्रत्यक्ष राजनीति की जो तस्वीर बनती है उसे दिखाने का प्रयास किया है। इस में देह की संरचनात्मक व्याख्या से लेकर मनोवैज्ञानिक निर्मितियाँ तक होती हैं। इसे भी उद्‌घाटित करने का प्रयास किया गया है।

मनोजगत से वास्तविक जगत तक आते–आते विचारों का स्वरूप तनिक भिन्न हो जाता है। अमूर्त विचार जब मूर्त रूप ग्रहण करते हैं तो कुछ परिवर्तित रूप में हमारे समक्ष आकार ग्रहण करते हैं। संभव है इस शोध–प्रबंध को लिखते हुए बहुत सारी चीजें छूट गई हों, जिन्हें इसमें स्थान दिया जा सकता था। इसी प्रकार अनेकों प्रश्न अपने प्रारंभिक स्वरूप से भिन्न रूप में प्रस्तुत हुए हैं, क्योंकि शोध–विषय की माँग थी। इस शोध कार्य को करते हुए मैं नारी जीवन के महत्वपूर्ण नवीन अनुभव – विवाह से गुजरी हूँ। और ऐसा लगता है कि जो मुद्दे वायवीय या हवाई लगते थे, वे सभी नित अनुभवों से गुजर कर नारी अस्मिता के प्रश्नों को नए सिरे से समझने में सहायक हुए।

मैं इस क्रम में माँ, पिता, दीदी और भाइयों की कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे इतना आगे पढ़ने और फलस्वरूप परिवेश को देखने, समझने, सोचने और निर्णय लेने हेतु आवश्यक चेतना के विकास का अवसर प्रदान किया। मैं अपने ससुरालजनों, खासतौर पर अपने पति की भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरी शिक्षा में प्रोत्साहन और सहयोग दिया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आदरणीय डा. देवेन्द्र चौबे के निर्देशन में ही सारा कार्य भली–भाँति संपन्न हो सका। उनके सहयोग के बिना यह कार्य पूर्ण होना संभव ही नहीं था। साथ ही भारतीय भाषा केंद्र के सभी शिक्षकों और कर्मचारियों के प्रति धन्यवाद व्यक्त करना चाहूँगी, जिनके सहयोगात्मक रवैये ने कार्य को सुचारु रूप से पूर्ण करने में अपनी भूमिका निभाई। जे.एन.यू. पुस्तकालय, साहित्य अकादमी पुस्तकालय और तीनमूर्ति पुस्तकालय के कर्मचारियों का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा।

यह लघु शोध–प्रबंध केवल मेरे ही श्रम का फल नहीं है। इसके पूरा होने में बहुत से लोगों का सहयोग रहा है। आलोक ने समय–समय पर मेरी काफी मदद की। इसके अलावा नीरज जी, बालेंद्र जी, नविता दीदी, शबनम दीदी, किंग्सन आदि का जो सहयोग मिला उसके लिए मैं इन सभी की आभारी हूँ।

अंत में विक्रम जी का आभार, जिन्होंने मेरी सोच को कागज पर उतारा।

दिनांक

वीना सुमन
120, गंगा छात्रावास
जे.एन.यू, नई दिल्ली–67

पहला अध्याय

स्त्री–विमर्श और हिंदी कहानी की परंपरा

1.1 स्त्री–विमर्श का अर्थ

1.2 समाज में स्त्री की जगह

1.3 हिंदी में स्त्री–लेखन और कहानी की दुनिया

स्त्री–विमर्श और हिंदी कहानी की परंपरा

समाज में स्त्रियों की जिंदगी को लेकर प्रारंभिक काल से ही बातें होती रही हैं, परंतु स्त्री–विमर्श एक आधुनिक प्रसंग है। इसलिए 'स्त्री–विमर्श' पद का प्रयोग उन अर्थों में किया जाता है, जहाँ स्त्रियाँ सामाजिक संरचना, समाज में अपनी स्थिति, आर्थिक निर्मितियों आदि के संदर्भ में सवाल उठाती हैं तथा उनके विवेकशील हल ढूंढने की कोशिश करती हैं। यद्यपि इस प्रक्रिया में उन विमर्शों को भी शामिल करने पर जोर दिया जाना चाहिए, जिसे विवेकशील पुरुषों ने स्त्रियों की जिंदगी को लेकर किए हैं। परंतु इतिहास बताता है कि वास्तव में ऐसा कम हुआ हैं। क्योंकि पुरुषों ने हमेशा चाहे कहानी हो या विमर्श अपने वजूद, अपने हितों को सर्वोपरि रखा है। इसीलिए सही अर्थों में जिसे 'स्त्री–विमर्श' माना जा सकता है, वह स्त्रियों की जिंदगी को लेकर स्त्रियों द्वारा किया गया विचार ही है।

आज सारी दुनिया में नारीवादी चिंतन, लेखन और नारी–मुक्ति के आंदोलन के माध्यम से स्त्रियाँ अपने बारे में सजग और सचेत हुई हैं। नारीवादी चिंतन ने मानव समाज और संस्कृति के इतिहास में स्त्रियों की बदलती हुई भूमिका और स्थिति का गंभीर विवेचन करते हुए आज के युग में नारी की वास्तविक स्थिति को समझने और समझाने में काफी मदद की है। आज स्त्रियाँ पुरानी रूढ़ियों और तरह–तरह के अत्याचारों से मुक्ति, अपने अधिकारों की रक्षा तथा व्यापक रूप में नारी समुदाय की स्वतंत्रता की दिशा में आगे बढ़ रही हैं।

1.1 स्त्री–विमर्श का अर्थ :

पश्चिमी यूरोप व उत्तरी अमरीका के देशों में महिला आंदोलन पर जो शोध साहित्य है उसमें आम तौर पर इन आंदोलनों को विभिन्न कालों अथवा लहरों में बांटा जाता है।[1] ऐसे बंटवारे में पश्चिमी देशों के महिला आंदोलन को प्रायः दो लहरों में विभाजित किया जाता है। पहली लहर उन्नीसवीं सदी से गुजरती हुई बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों तक पहुंचती है, जबकि दूसरी लहर का उतार–चढ़ाव 1960 से लेकर आज तक जारी है। पश्चिमी महिला

आंदोलनों एवं राजनैतिक प्रक्रियाओं का यह विवरण 1960 और 1970 के दशकों में जन्मी 'दूसरी लहर' पर केंद्रित है।

दुनिया भर में इतिहास–लेखन पूरी तरह पुरुष–केंद्रित रहा है। यही कारण है कि 'मनुष्य' के इतिहास में बराबर की हिस्सेदार होते हुए भी महिलाएँ इतिहास के पन्नों में लगभग अदृश्य रही है। इसलिए हमें उनके अतीत के संघर्ष और उनकी सफलता–विफलता के बारे में बहुत सीमित जानकारी ही मिल पाती है। यह स्थिति पश्चिमी अथवा तथाकथित 'विकसित' देशों में भी उतनी ही वास्तविक है जितनी कि दुनिया के दूसरे देशों में। स्त्रियों द्वारा अपनी निर्धारित सामाजिक भूमिका के कटघरे से बाहर निकलने के आरंभिक प्रयास सीमित रहे। बाद की पीढ़ियों को इनका लाभ नहीं मिल सका और कभी–कभी इन प्रयासों का हिंसात्मक दमन भी किया गया। उदाहरण के लिए, महिला शिक्षा के कठिन और चुनौतीपूर्ण इतिहास को हम देख सकते हैं। अकेली औरत ने शिक्षा पाने के लिए सदियों तक बार–बार संघर्ष किया। वे हाथ आई हर किताब को लुक–छिपकर पढ़ने की कोशिश करती और कुछ न मिला तो कम–से–कम बाइबिल ही पढ़ लिया, जो पुराने जमाने की सबसे सुलभ पुस्तक थी।

इस कथन का कि "महिला आंदोलन की शुरुआत 19वीं सदी और 20वीं सदी के आरंभिक दशकों में हुई" यह अर्थ कदापि नहीं है कि इससे पहले महिलाएँ राजनीतिक तौर पर सक्रिय नहीं थीं। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि इसके पहले के इतिहास में हमें महिलाओं की राजनैतिक सक्रियता की किसी सार्वजनिक या लंबी परंपरा की जानकारी नहीं मिलती है। महिला अधिकारों की मांग केवल यूरोप और उत्तरी अमरीका के देशों–उपनिवेशों में ही नहीं, बल्कि पाश्चात्य जगत के बाहर दक्षिणी अमरीका और एशिया में भी उभर रही थी। इस प्रकार स्वयं महिलाओं द्वारा या उनके समर्थको द्वारा आयोजित अनेक गतिविधियाँ दुनिया के कई भागों में उभरकर आ रही थी, हालांकि इन्हें अक्सर एक–दूसरे के बारे में कोई जानकारी नहीं थी।

ब्रिटेन में मेरी वोल्स्टोनक्राफ्ट की पुस्तक 'विंडिकेशन ऑफ दी राइट्स ऑफ विमेन' 1792 में छपी, जो आने वाली सदी के लिए बहुत महत्वपूर्ण साबित हुई। इसके काफी बाद, 1873 में आई जॉन स्टुअर्ट मिल की किताब 'सबजेक्शन ऑफ विमेन' (महिलाओं का अधीनीकरण) और 1884 में प्रकाशित हुई फ्रेडरिक एंगेल्स की एक अलग ही नजरिए से लिखी गई अत्यंत मौलिक पुस्तक– 'दि ओरिजिन ऑफ दि फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एंड दि स्टेट' (परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति)। यह पुस्तक एंगेल्स और कार्ल मार्क्स द्वारा तैयार किए गए नोट्स पर आधारित थी।

संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी राज्यों में (जहाँ दास प्रथा प्रचलित थी) एंजेलीना ग्रिमके (Angelina Grimke) नामक एक श्वेत महिला ने, जो दास–प्रथा विरोधी अभियान में सक्रिय थी, 1838 में एक सार्वजनिक घोषणा की कि जब तक उसे स्वयं मुक्ति नहीं मिलती, वह नीग्रो इंसानों को गुलामी से मुक्त नहीं कर सकती। दस साल बाद, अमरीकी महिलाओं ने 200 स्त्रियों और समान विचारों वाले 40 पुरुषों के एक समूह की आम सभा आयोजित की और महिलाओं की समानता और नागरिक अधिकारों के बारे में सार्वजनिक उद्घोषणा की। बीसवीं सदी की शुरुआत होते–होते उत्तरी यूरोप के स्केंडिनेवियाई राष्ट्रों में स्त्री–पुरुष समानता को समर्पित जन–कल्याणकारी राज्य का सांस्थनीकरण हो चुका था, जिससे यहाँ की महिलाओं को बराबरी के संघर्ष में पश्चिमी जगत के दूसरे देशों की महिलाओं से आगे निकलने का मौका मिला।

स्त्रियों को मताधिकार दिलाना महिला आंदोलन के पहले चरण की सुप्रसिद्ध सफलता रही। लेकिन यह सफलता एक लंबे राजनैतिक संघर्ष के कठिन परिश्रम से ही मिल सकी। संयुक्त राज्य अमरीका की संसद ने 1919 में महिलाओं को मताधिकार देने के लिए संविधान में संशोधन किया। ब्रिटेन में महिलाओं को मताधिकार 1927 में मिला, जबकि फ्रांस की महिलाओं को इसके लिए 1944 तक इंतजार करना पड़ा। अन्य पश्चिमी देशों में यह अधिकार और भी विलंब से मिल पाया, जैसे कि स्विट्जरलैंड में 1959 में महिला मताधिकार

प्रस्ताव राष्ट्रीय संसद में पराजित हो गया। इस पराजय के बाद जिला, कसबा और शहर के स्तर पर मताधिकार प्रस्तावों को पारित कराने की कोशिश करनी पड़ी। उन्नीसवीं सदी से ही महिलाएँ कई मोर्चों पर सक्रिय थीं और उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक दोनों ही तरह के मुद्दों को उठाया। इन मुद्दों पर ध्यान देना आवश्यक है। चूँकि इन्हें लेकर महिलाएँ संगठित हुई और इसके माध्यम से आंदोलन की आम जनता के बीच पहचान बनी। लेकिन यह पहचान आसानी से नहीं बनी। शुरुआती दौर में तो महिला संगठनों द्वारा अपनाई गई राजनीतिक कार्य–प्रणाली तथा तौर–तरीकों के कारण आम जनता के समक्ष आंदोलन और उसके उद्देश्यों की कोई स्पष्ट छवि नहीं बन पाई। क्योंकि महिला समूह अपने आंदोलन के राजनीतिंक मूल्यों, जैसे स्वायत्तता, समानता, श्रेणीमुक्तता के प्रति गंभीर थे और संगठन का प्रतिनिधित्व करने के लिए कोई प्रत्यक्ष या विशिष्ट नेतृत्व नहीं था। 1960 और 1970 के दशकों में अमरीका और यूरोप में, खासकर रेडिकल नारीवादी समूहों में, आंदोलन का न कोई केंद्र था और न ही कोई केंद्रीय संस्था या अधिकृत प्रवक्ता। इसके फलस्वरूप मीडिया तथा संचार माध्यम अपनी पसंद की यानी सामान्यतः विकृत या कम–से–कम सनसनीखेज छवियों की सहायता से महिला आंदोलन का प्रचार करते रहे। इस प्रकार आम जनता को अखबार– पत्रिकाओं या टीवी पर अक्सर महिला आंदोलन का विद्रूप चेहरा ही दिखता था। मीडिया की भड़कीली और सनसनी–प्रधान शैली ने जनता में महिला आंदोलन के बारे में कई भ्रम फैलाए, मसलन कि सभी नारीवादी पुरुषों से घृणा करती हैं। लेकिन दूसरी तरफ ऐसी घटनाएँ भी थीं जिसमें मीडिया ने महिलाओं के मुद्दों और उनके परिप्रेक्ष्य को जनता तक पहुंचाने में और उनके लिए व्यापक समर्थन जुटाने में निर्णायक भूमिका निभाई। मीडिया के कारण चंद कार्यकर्ताओं द्वारा आयोजित छोटे–मोटे कार्यक्रम या अभियान भी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचारित–प्रसारित हुए। 1968 में एटलांटिक सिटी नामक नगर में 'मिस अमरीका' सौंदर्य प्रतियोगिता के दौरान लगभग दो सौ नारीवादियों ने विरोध प्रदर्शन किया। उनका कहना था कि इस तरह की तथाकथित 'सौंदर्य प्रतियोगिताओं' का असली उद्देश्य पुरुषों के भोग–विलास के लिए स्त्री–शरीर का प्रदर्शन और

विकृत मानवीकरण है। विरोध प्रदर्शन कर रही महिलाएँ मंच पर चढ़ गईं और अपनी बात कहने के लिए उन्होंने एक भेड़ को 'मिस अमरीका' का ताज पहनाया। एक दूसरी पहल फ्रांस में 1972 में की गई। लगभग 300 फ्रांसीसी महिलाओं ने एक आंचलिक अखबार में सार्वजनिक पत्र छपवाया जिसमें उन्होंने लिखा था : "मैंने गर्भपात करवाया है।"[2] इस पत्र पर सिमोन द बुआ जैसी जानी–मानी हस्तियों ने भी हस्ताक्षर किए थे। यह पत्र बहुत ही सटीक और सनसनीखेज प्रकार का विरोध प्रदर्शन था, क्योंकि उन दिनों गर्भपात कराना कानूनन जुर्म था और इसके तहत पकड़े गए व्यक्तियों को जेल भेजा जाता था। इस सार्वजनिक पत्र के जरिए नारीवादी हस्ताक्षरकर्ता समाज का ध्यान अपनी इस मांग की ओर आकर्षित करना चाहते थे कि महिलाओं को अपने प्रजनन तथा यौनिकता को स्वयं नियंत्रित करने का हक मिलना चाहिए, जबकि कानून कहता है कि स्त्री–शरीर पर स्वयं स्त्रियों का नहीं बल्कि राज्य का अधिकार होना चाहिए। फ्रांस के बाद एक ऐसा ही सार्वजनिक पत्र पश्चिमी जर्मनी में भी छपा, जिस पर सुप्रसिद्ध नारीवादियों के हस्ताक्षर थे। इन पत्रों ने आम जनता और मीडिया में तहलका मचा दिया और तत्कालीन गर्भपात कानूनों में संशोधन की मांग के समर्थन में महिलाओं को भारी संख्या में सड़कों पर उतार दिया।

अमरीका के नागरिक–अधिकार आंदोलन और विश्व के अन्य नए वामपंथी आंदोलनों की देखा–देखी सभी देशों में सुनियोजित जुलूस, धरना प्रदर्शन, स्वतःस्फूर्त भाषण, सड़कों पर जमघट और अनगिनत बहसें होने लगीं। सबसे प्रभावशाली अभियानों में 'रात को वापस लो' (take back the night) जुलूसों को गिना जाता है जो 1970 के दशक में कई देशों में आयोजित किए गए। ऐसे अभियानों का उद्देश्य था – महिलाओं के घर से बाहर निकलने पर लगे प्रतिबंधों की ओर ध्यान आकर्षित करना और यह भी कि कैसे महिलाओं को सार्वजनिक स्थानों में रहते–गुजरते वक्त, खासकर रात को, छेड़छाड़ या हिंसा की आशंका के सर्वव्यापी भय और तनाव का सामना करना पड़ता है। 'रात को वापस लो' जुलूस महिलाओं को इस समस्या का मिलकर सामना करने

और यौन–उत्पीड़न के डर से मुक्त रहने का मौलिक अधिकार मांगने के लिए प्रेरित करने का एक प्रतीकात्मक प्रदर्शन था। महिला आंदोलन का संघर्ष केवल सार्वजनिक जगत में काम की बेहतर परिस्थितियों एवं वेतन की मांग तक सीमित नहीं रहा। हालांकि आंदोलन की एक बहुत ही दिलचस्प मुहिम ब्रिटेन और इटली जैसे देशों में 1970 के दशक में 'घरेलू काम के लिए वेतन' अभियान के रूप में छेड़ी गई। इस मुद्दे को उठाने का उद्देश्य यह था कि समाज को यह मानने के लिए मजबूर किया जाए कि महिलाओं द्वारा घर पर किया गया काम – जिसमें घर संभालना, बच्चों की देखभाल करना इत्यादि शामिल है – समाज की पुनरूत्पत्ति के लिए निर्णायक है। फिर भी उसे आर्थिक रूप से मूल्यहीन माना जाता है। समाज यह पहले से ही मानकर चलता है कि महिलाओं का घरेलू काम मुफ्त या अवैतनिक काम है। इटली में इस अभियान को चलाने का सुझाव नारीवादी मारियारोसा डाल्ला कोस्टा ने दिया। उन दिनों इटली में सक्रिय महिला आंदोलन के साथ–साथ एक अत्यंत अस्थिर, हिंसक एवं ध्रुवीकृत राजनैतिक माहौल था। इस अभियान के कारण इटली का महिला आंदोलन – जो अपने जमाने में अन्य देशों के मुकाबले कहीं अधिक व्यापक था – आक्रामक रूख अपनाने को विवश हुआ और उसे सरकार, चर्च और अन्य संगठनों के प्रहार झेलने पड़े। डाल्ला क्रोस्टा स्वयं विद्रोही एवं उत्तेजक लेखन के आरोप में गिरफ्तार हुई।

महिला आंदोलन का चरित्र–चित्रण उसके द्वारा उठाए गए विस्तृत मुद्दों के बल पर किया जा सकता है, जिनमें महिलाओं का वैतनिक तथा अवैतनिक काम, रोजगार एवं शिक्षा में समानाधिकार, यौन–उत्पीड़न और घरेलू हिंसा, गर्भ नियंत्रण एवं गर्भपात का अधिकार इत्यादि 1960 और 1970 के दशकों के सबसे जाने–माने अभियान थे।

इन तमाम विशिष्टताओं के बावजूद उस समय के सभी देशों के महिला आंदोलनों ने तथाकथित निजी क्षेत्र–परिवार, व्यक्तिगत संबंध और यौनिकता का अभूतपूर्व राजनीतिकरण किया। इस विषय पर सभी देशों और घटकों का एक सा मत था। अलग–अलग विचारधाराओं वाली नारीवादियों का भी मानना था

कि संपूर्ण समानता और नारी मुक्ति के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए आंतरिक एवं बाह्य प्रक्रियाओं और व्यक्ति–विशेष एवं समूह दोनों को परिवर्तित करना आवश्यक है। लेकिन प्राथमिकता और उपयुक्त कार्यप्रणाली के विषय में बेशक शुरु से ही काफी विवाद और मतभेद मौजूद थे। महिला आंदोलन को तीन धाराओं में विभाजित कर दिया गया था – उदारवादी, रेडिकल और समाजवादी या मार्क्सवादी।

शुरुआती दौर में सभी नारीवादी, भले ही उनके दृष्टिकोण अलग रहे हों, समाज की मुख्यधारा में लिंगभेद व लैंगिक पूर्वाग्रह की समस्याओं पर ध्यान दे रहे थे। लेकिन 1980 के दशक तक मतभेदों के कारण आंदोलन के भीतरी पूर्वाग्रहों तथा भेदभावों पर खुलकर सवाल किए जाने लगे। 1960 और 1970 के दशकों में यह आम बात थी कि महिला आंदोलन के लगभग सभी घटक सभी पीड़ित महिलाओं का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते थे और भूमंडलीय बहनचारे (Global Sisterhood) की दुहाई देते थे। परंतु यह जल्दी ही स्पष्ट हो चुका था कि इस प्रकार के सार्वजनिक दावे पश्चिमी जगत के दायरे में भी झूठे थे। नाम तो सभी महिलाओं का लिया जाता था, लेकिन आंदोलन वस्तुतः खेत, मध्यमवर्गीय एवं विषमलैंगिक कामना वाली महिलाओं के अनुभवों पर आधारित था। यूरोप और अमरीका में ब्लैक (काली अफ्रीकी मूल की) महिलाएँ अन्य अश्वेत महिलाएँ एवं प्रवासी महिलाओं ने अपने–अपने देशों के आंदोलन में बहिष्करण एवं नस्लवाद के कई स्वरूपों को पहचानने और नामजद करने की प्रक्रिया शुरु की।

समलैंगिक कामना वाले (Lesbian) नारीवादियों ने भी विषमलैंगिकता–प्रधान आंदोलन में अपनी अदृश्यता और होमोफीबिया के अनुभवों के बारे में खुलकर बोलना शुरु किया।

समकालीन भारतीय महिला आंदोलन का इतिहास काफी संपन्न है, लेकिन अभी तक उससे संबंधित लिखित दस्तावेज अपूर्ण ही हैं। भारतीय संदर्भ में समकालीन महिला आंदोलन की जड़ें बुद्ध के समय में देखी जा सकती हैं जब सुमंगला और भुट्टा ने घर–गृहस्थी और समाज के जंजाल को त्यागकर

भिक्षुणी बनने का निर्णय लिया। सुमंगला माता की पहचान आज तक अपने बेटे 'सुमंगल' के नाम से होती है। उसका पति उसे इतने त्रास देता था कि थेरी बनने पर उसने लिखा :

"अहो मैं मुक्त नारी / मेरी मुक्ति धन्य है/
पहले मैं मूसल ले धान कूटा करती,
आज उससे मुक्त हुई...
गया मेरा निर्लज्ज पति जो मुझे
उन छातों से भी तुच्छ समझता था जिन्हें वह
अपनी जीविका के लिए बनाता था।"[3]

महाभारत में द्रौपदी की दंतकथा का उदाहरण हमारे सामने है। उसने शत्रु के दरबार में अपने पांच पतियों को चुनौती दी थी। मीराबाई और महादेवियक्का का उदाहरण भी हमारे सामने है, जिन्होंने समाज के बंधनों को तोड़कर सड़कों पर भक्ति गीत गाए और हमारे लिए कविता और संगीत की एक समृद्ध वसीयत छोड़ी। भारतीय महिला आंदोलन को 19वीं सदी के मध्य में छत्तीसगढ़ की आदिवासी महिलाओं के पूंजीवाद विरोधी संघर्ष में भी देख सकते हैं।

आधुनिक काल में भारतीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में समाज में स्त्रियों की दशा एवं दिशा को देखा जा सकता है। राजा राममोहन राय निश्चित ही इस सांस्कृतिक जागरण के अग्रदूत रहे। राजा राममोहन राय ने तत्कालीन समाज में प्रचलित सती प्रथा का डटकर विरोध किया। 1811 में जब उनके भाई जगमोहन की मृत्यु पर उनकी भाभी को जबरन सती करा दिया गया तो उन्होंने इसके लिए व्यापक आंदोलन चलाया और ब्रिटिश गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैटिंक को इस प्रथा को प्रतिबंधित करने के लिए राजी किया। 1829 में नियम 17 के तहत सती प्रथा प्रतिबंधित हो गई।

विधवाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने अथक प्रयत्न किया। उनके प्रयासों से 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम

बना, जिसके द्वारा विधवा विवाह को वैध करार देते हुए इनसे पैदा होने वाले बच्चों को वैध माना गया। पश्चिमी भारत में विष्णु शास्त्री और कर्वे महोदय विधवाओं के कल्याण से जुड़े थे। 1896 में धोवों केशव कर्वे ने पूना में विधवा आश्रम की स्थापना की। 1891 में एस. एस. बंगाली के सहयोग से ऐज ऑफ फन्सेंट ऐक्ट और 1930 में पुनः इसे संशोधित करके शारदा एक्ट पारित किया गया। इसके अंतर्गत लड़कियों की विवाह की आयु 12 वर्ष से बढ़ाकर 14 वर्ष की गई।

इसी प्रकार स्त्री–शिक्षा को लेकर 1819 में कलकत्ता में 'तरूण स्त्री सभा' की स्थापना हुई। ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने स्त्री–शिक्षा के प्रचार–प्रसार हेतु बंगाल में लगभग 35 विद्यालयों की स्थापना की। 1849 में उन्होंने कलकत्ता में महिलाओं की उच्च शिक्षा के लिए बैथुन स्कूल की स्थापना की। इन प्रयासों का नतीजा था कि 1854 के चार्ल्स वुड डिस्पैच में पहली बार स्त्री–शिक्षा पर आधिकारिक रूप से बल दिया गया। प्रो. कर्वे ने भी 1916 में पुणे में भारतीय महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की।

इस तरह स्त्रियों की स्थिति में सुधार से संबंधित विभिन्न प्रकार के प्रयत्नों की झलक भारतीय नवजागरण में देखी जा सकती है।

भारतीय समाज में स्त्रियों की बेहतर दशा के उद्देश्य से किए गए इनके प्रयासों ने जो सबसे बड़ी भूमिका निभाई, वह यह थी कि सदियों से जड़ीभूत, संकीर्ण, एवं पक्षपाती मानसिकता में दरार पैदा कर एक सकारात्मक मानसिकता के निर्माण की परिस्थिति को संभव बनाना। यद्यपि इन प्रयासों को आरंभ में उतनी सफलता या व्यापक समर्थन नहीं मिला, लेकिन इसने वर्तमान के बीज अवश्य बो दिए।

भारत में हिंदी क्षेत्र के विशेष संदर्भ में यह आंदोलन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। क्योंकि यह क्षेत्र सामाजिक चेतना की दृष्टि से देश के अन्य हिस्सों की अपेक्षा कुछ पिछड़ा हुआ था। भारत का महिला आंदोलन अनेक लड़ियों में पिरोया हुआ है। हरेक ने विभिन्न रंगों व बुनावटों से इसमें अपना योगदान दिया है। लाखों जीवनकथाओं के ताने–बाने जोड़कर आंदोलन बड़ा

हुआ है। कितनी ही महिलाओं के खून–पसीने, आंसुओं, अंतर्दृष्टियों, सपनों, विचारों और शक्तियों से आंदोलन का निर्माण हुआ है। कितनी ही महिलाओं की कोशिश रही है कि वे अपने प्रति हुए अन्याय, हिंसा और शोषण को आंदोलन की भट्टी में भस्मीभूत कर सकें।

आज जब संपूर्ण विश्व में बढ़ती गैर–बराबरी, भेदभाव, गरीबी और हिंसात्मक टकरावों का संकट छाया हुआ है, महिलाओं की सामूहिक ताकत का अपना अलग महत्व है। महिलाओं ने इसे अपने योगदान से विस्तृत और बहुआयामी बनाया है। महिला समूहों ने सामूहिक प्रयत्नों से महिलाओं की स्थिति सुधारने की कोशिश की है। उनकी कोशिश रही है कि समाज, राष्ट्र और विश्व के संपूर्ण ढांचे में परिवर्तन लाया जा सके। भारतीय महिला आंदोलन ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना स्थान बनाया है। इस आंदोलन की नींव में दलित, कामकाजी, मजदूर, निम्न, मध्य एवं उच्च मध्यवर्ग सभी का योगदान है। उनकी अलग–अलग सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, लेकिन महिलाओं ने एक–दूसरे की परिस्थितियों, संघर्षों एवं प्राथमिताओं को समझने की चुनौती स्वीकार की है।

ऐसा नहीं है कि भीतरी मतभेद और टकराव नहीं है। कुछ टकराव वर्ग व परिस्थितिजन्य है तो कुछ सोच और नजरिए में अंतर के कारण है। मुद्दे काफी जटिल हैं और आसानी से सुलझने वाले नहीं है। एक समस्या सुलझती नहीं, दूसरी उभर आती है। आज समकालीन विश्व में अनेक तरह के संकट छाए हुए हैं। महिलाओं की गैरबराबर स्थिति इसका केवल एक पहलू है। जब तक बहुत से संबंधित क्षेत्रों में वृहत स्तरीय परिवर्तन नहीं आता, महिलाएँ अपने मुख्य लक्ष्य हासिल नहीं कर सकेंगी।

महिला आंदोलन के लिए यह आवश्यक है कि दूसरे आंदोलनों से उसके जुड़ावों को समझा जाए और उनको बनाए रखा जाए। भारतीय महिला आंदोलन के इतिहास में हमें अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ मजदूरों, दलितों, आदिवासियों, क्रांतिकारियों ने मिलकर संघर्ष किए हैं। महिला आंदोलन का जुड़ाव स्वाधीनता संग्राम से भी रहा है। जब वर्गीय, जातिगत और लैंगिक

शोषण का बोझ ढोने वाली महिला अपनी खामोशी तोड़ती है तो सामाजिक–आर्थिक ढांचे की नींव हिलने लगती है।

महिला आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है औरत से रिश्ता और जुड़ाव। अंततः आंदोलन की नींव उन लाखों–करोड़ों आम औरतों ने डाली है जिन्होंने सदियों से सवाल उठाए हैं, असंतोष जताया है, विरोध के स्वर उठाए हैं और असहयोग की शुरुआत की है। रूढ़िवादी इतिहासकार भले ही इसे अनदेखा कर दें, पर वास्तविकता यह है कि महिला आंदोलन की जड़ें, महिलाओं के रोजमर्रा के जीवन से जुड़ी हैं। आंदोलन की जड़ें वे छोटे–छोटे अनौपचारिक महिला समूह हैं, जो खेतों, फैक्टरियों और घरों में साथ–साथ या एक तरह का काम करती हुई महिलाएँ स्वतः ही बना लेती है। इनको एक–दूसरे से सहारा एवं बल मिलता है। समाज में, काम की जगह, घर–परिवार, आस–पड़ोस में अनेक ऐसे अनौपचारिक समूह हैं जिनसे महिलाओं को मुसीबत के समय सहारा मिलता है। वे आपस में सुख–दुख बाँटती हैं, जानकारी और रणनीतियाँ बाँटती हैं। माँ, दादी, नानी, रिश्तेदार, सहेलियाँ और पड़ोसिनें लड़कियों को तमाम हुनर सिखाती हैं। महिलाएँ रोजमर्रा के जीवन में कई स्तरों पर महसूस करती हैं कि उन्हें सहारा देने वाली अन्य महिलाएँ हैं। समाज में कई बार महिलाएँ किसी मुद्दे को लेकर जुड़ती हैं, थोड़े समय के लिए सामूहिक रूप से सक्रिय होती हैं, फिर बिखर जाती हैं।

महिला आंदोलन की शुरुआत कोई अभी हाल में नहीं हुई है, न दिल्ली और मुंबई की सड़कों पर हुई है। इसकी शुरुआत हजारों स्थानों पर हजारों तरह से हुई है। इसकी तुलना उस नदी से नहीं की जा सकती जो एक स्पष्ट स्रोत से शुरु होकर एक स्पष्ट जगह समाप्त हो जाती है। वरन् इसमें सैकड़ों धाराएँ मिलती हैं जो स्वयं हजारों धाराओं और झरनों से मिलकर बनी है।

स्त्री–विमर्श का भारतीय स्वरूप पाश्चात्य स्वरूप से भिन्न रहा है। पश्चिम में जहाँ परिवार से बाहर अपनी अस्मिता की तलाश की गई, वहीं भारत में परिवार के भीतर ही अस्तित्व के स्वीकार की मांग से यह विमर्श उभरा। स्त्रीवाद और स्त्रियों की मुक्ति का आंदोलन कोई एक चीज नहीं है। स्त्रीवाद

एक विचारधारा है जिसके आधार पर स्त्रियों की मुक्ति के प्रयास किए जाते हैं। लेकिन स्त्रीवाद के अनेक रूप हैं, उसमें अनेक प्रवृत्तियाँ हैं और उसे समय–समय पर अलग–अलग ढंग से परिभाषित किया जाता रहा है। उदाहरण के लिए, एक स्त्रीवाद वह है जो यह मानता है कि हर पुरुष और हर स्त्री के बीच एक अंतर्विरोध है और सामाजिक अंतर्विरोधों में यही सबसे मुख्य अंतर्विरोध है। कुछ लोगों की समझ में यही बुनियादी स्त्रीवाद है। दूसरा स्त्रीवाद समाजवादी स्त्रीवाद है, जो समाजवादी व्यवस्था में तो विश्वास करता है, लेकिन यह मानता है कि समाजवाद की विचारधारा में वर्ग को अधिक महत्व दिया जाता है। जबकि उसमें स्त्री को, स्त्री के सामाजिक स्तर को और स्त्री होने के कारण होने वाले स्त्री के शोषण को अधिक उजागर करने की जरूरत है। तीसरा एक 'इसेंशियलिस्ट' (तात्त्विक) स्त्रीवाद भी है जिसमें यह माना जाता है कि बायलॉजिकल (जैविक) रूप से स्त्री जननी होने के कारण पुरुष की प्रकृति से भिन्न प्रकृति वाली होती है – जैसे पुरुष हिंसक होता है, जब कि स्त्री शांतिप्रिय होती है; पुरुष की तुलना में स्त्री का संबंध प्रकृति से अधिक गहरा और ज्यादा मानवीय होता है, इत्यादि। इस प्रकार स्त्रीवाद को अलग–अलग समयों पर अलग–अलग ढंग से परिभाषित किया जाता रहा है और अपनी–अपनी परिभाषा के अनुसार स्त्री मुक्ति के आंदोलन चलाने के प्रयास किए जाते रहे हैं।

स्त्रीवाद इस शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण वैचारिक और सामाजिक आंदोलन रहा है। यद्यपि स्त्रीवाद एक सिद्धांत या कई सिद्धांतों का समुच्चय है जिसे आकदमिक स्तर पर पढ़ाया या विमर्श का मुद्दा बनाया जा सकता है, पर साथ ही यह एक आंदोलन भी है जो अकादमिक दुनिया से बाहर की दुनिया के बदलाव के लिए प्रतिबद्ध है। यदि एक बेहद सामान्य और सांकेतिक परिभाषा देनी हो तो स्त्रीवाद एक मान्यता है जिसके अनुसार स्त्री केवल अपने स्त्री होने के कारण समाज में असमानता की शिकार है। समाज पुरुषों के विचारों और आग्रहों के कारण इस प्रकार संगठित है कि यहाँ पुरुष को मजबूत और स्त्री को कमजोर, पुरुष को विचारशील और स्त्री को भावुक, पुरुष को सक्रिय तथा

स्त्री को निष्क्रिय और उसी प्रकार के अन्य सांचों में देखा–समझा जाता है। इस प्रकार की नकारात्मक विचार–शृंखला में न केवल सार्वजनिक जीवन में स्त्री नदारद रहती है, बल्कि उसका सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व भी न के बराबर रहता है।

1.2 समाज में स्त्री की जगह :

भारतीय हिन्दू समाज में स्त्री की अवधारणा सदैव नकारात्मक और पुरुष के पूरक रूप में दिखाई पड़ती है। ऐसी अवधारणाओं के निर्माण में हजारों साल से शास्त्र–धर्म और लोकधर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। बचपन की कहानियों में स्त्री कहीं ऋषि–मुनियों की तपस्या भंग करती तो कहीं आधे राज्य के साथ उपहार स्वरूप दी जाती। स्त्री और ढोल को जितनी पिटो उतना अच्छा या स्त्री की अक्ल एड़ी में जैसे महावाक्यों को सुनते हुए होश संभालने वाले इस समाज में स्त्री की स्थिति क्या हो सकती है, वह अकल्पनीय नहीं।

हिंदू समाज मूलतः पितृसत्तात्मक है। वंश–रक्षा के लिए पुत्र का होना अनिवार्य होता है और स्त्री की आवश्यकता पुरुष की वंश–बेल बढ़ाने के लिए बराबर बनी रहती है। इस समूची प्रक्रिया में स्त्री केवल माध्यम बन कर आती है। माध्यम को कहीं कोई स्वतंत्रता नहीं होती। पुरुष की वंश–रक्षा के इस मातृत्व में उसकी 'सार्थकता' देखी जाती है और गृहिणी के रूप में उसकी 'उपयोगिता'। ऐसे में उसका समूचा अस्तित्व पुरुष से सीधे–सीधे जुड़ता है। उसके जीवन के सारे समीकरण पति के संबंधों पर केंद्रित होते हैं। उसके बाहर उसकी कोई सामाजिक हैसियत नहीं आंकी जाती। अविवाहित है तो कुमारी, पति है तो श्रीमती, नहीं तो अमुक की विधवा! यहाँ तक कि केवल बाहरी वेशभूषा से उसके जीवन का समूचा परिचय प्राप्त हो जाता है।

उत्तमराव क्षीरसागर की कविता 'उसके भीतर' के माध्यम से हम समाज में स्त्री की स्थिति और नियति को समझ सकते हैं –

'झाँका उसके भीतर
और किसी ने

कहा – सुंदर है

बहुत सुंदर है

सचमुच सुंदर है

कहा किसी ने माँ

बहन–बहू बेटी, सास

ताई–काकी–नानी–दादी

किसी ने अच्छा माल है – सॉलिड आयटम

छिनाल, रंडी –कुलच्छनी

तिरिया चरित्र'[4]

वंश की प्रामाणिकता बनाए रखने के लिए विवाह इस समाज का आवश्यक विधान है। किंतु हिंदू समाज में विवाह पुरुष का होता है, स्त्री का तो दान किया जाता है। जाहिर है दान के साथ दक्षिणा भी होगी।

"जैसे महाजन को मूल से प्यारा सूद होता है वैसे ही वर पक्ष के लिए दान के साथ दक्षिणा का महत्व होता है। हिंदू परिवारों के युवकों की मनोवृत्ति के विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। वे प्रायः पत्नी के भरण–पोषण का भार ग्रहण करने से पहले श्वसुर से कन्या को जन्म देने का भारी से भारी कर वसूल करना चाहते हैं। एक विदेश जाने का खर्च चाहता है, दूसरा युनिवर्सिटी की पढ़ाई समाप्त करने के लिए प्रचुर धन मांगता है। सारांश यह है कि सभी अपने–आपको ऊँची से ऊँची बोली के लिए नीलामी पर चढ़ाए हुए हैं।"[5]

आज इतने वर्षों बाद भी युवकों की मनोवृत्ति नहीं, प्राथमिकताएँ बदली हैं। अब युनिवर्सिटी का खर्च नहीं, बल्कि व्यवसाय स्थापित करने के लिए पैसा चाहिए, दहेज में मारुति कार चाहिए वगैरह, वगैरह। इस दक्षिणा के अभाव में दान की उपेक्षा इसी समाज में संभव है। यह कोई सामाजिक या नैतिक मसला नहीं, बल्कि अत्यंत घरेलू, निजी धार्मिक मामला बन जाता है। यही कारण है कि यहाँ गोहत्या पर तो दंगे हो जाते हैं किंतु वधू–हत्या पर चूँ तक नहीं होती। दहेज विरोधी अधिनियमों पर टिप्पणी आती है – "कृपया हमारे गृहस्थ

धर्म की पवित्रता में हस्तक्षेप मत कीजिए। हम तो इस संबंध में अपने धर्मशास्त्र के अनुसार ही चलना चाहते हैं।"[6]

इसी के चलते दहेज विरोधी अधिनियम बनाते हुए इसमें इतने छिद्र छोड़ दिए जाते हैं कि हिंदू धर्म की पवित्रता भी बरकरार रहे और संविधान की रक्षा भी की जा सके। "पैसे, सत्ता और प्रतिष्ठा के समीकरण वाले इस समाज में स्त्री स्वयं में एक आर्थिक इकाई नहीं है इसलिए उसका मूल्य कम है और इसलिए उसे बाप के पैसे और सामान लाना चाहिए।"[7]

दहेज का सबसे दुःखद पहलू यह है कि दहेज की मांग और मात्रा वर पक्ष द्वारा तय की जाती है। विवाह कन्या पक्ष की क्रय शक्ति के आधार पर टिकता है। ऐसे में स्त्री की सहमति, असहमति, पसंद, नापसंद का कोई मूल्य नहीं होता।

हिंदू स्त्री के पत्नीत्व पर चर्चा करते हुए महादेवी वर्मा ऐसे ही विवाह का दृश्य प्रस्तुत करती है – "जिस प्रकार भावी पति, परिवार के व्यक्ति उसे चलाकर, हंसाकर, लिखा–पढ़ाकर देखते हैं तथा लौटकर उसकी लंबाई–चौड़ाई के विषय में धारणाएँ बनाते हैं उसे सुनकर दास प्रथा के समय बिकने वाली दासियों की याद आए बिना नहीं रहती।"[8]

महादेवी वर्मा हिंदू समाज में स्त्री के विवाह की अनिवार्यता को स्त्री की दुर्दशा से जोड़ती है, क्योंकि वे मानती हैं कि वही उसके भरण–पोषण का साधन है। ऊपरी तौर पर यह एकदम मोटी बात लगती है। इस कथन की सपाटता को देखकर यह कथन एकदम से स्वीकारा या नकारा जा सकता है। लेकिन यह समाज के एक बड़े हिस्से का सत्य है। हमारे हिंदू समाज में वास्तव में विवाह स्त्री के लिए आवश्यक विधान है। इसी के चलते पिता के घर गृहिणी बनाने की शिक्षा उसे अधिक मिलती है। सेवा–टहल की इस शिक्षा के क्रम में पिता पर और विवाह के पश्चात – उसके पति पर उसकी जिम्मेदारी है। अपने निर्वाह की समस्या पर वह उतना नहीं सोच पाती। पढ़ाई–लिखाई के पश्चात् अगर अपने पैर पर खड़े हो सके तो अच्छी बात है वरना विवाह तो हो ही

जाएगा। विवाह की अनिवार्यता हिंदू स्त्री के मस्तिष्क में यह बात बचपन से ही बैठा देती है।

कल्लोल चक्रवर्ती की कविता 'सप्तपदी' इस स्थिति को स्पष्ट रूप से उजागर करती है –

"यह अग्नि है जिसके चारों ओर मैं तुम्हारे साथ घूमती हूं गोल–मोल
यह शिला है जिस पर मैं पाँव रखती हूं स्थिर
यह अक्षत है जो बरस रहा है हम पर
यह गाँठ है जो जोड़े हुए है
मेरे और तुम्हारे वस्त्रों को
हमारा जीवन मधुमय हो
सुनती हूं मैं
तुम पकड़ते हो मेरा हाथ
मैं जानती हूं मुझे जाना है तुम्हारे साथ जाने या अनजाने
मेरी माँग में तुम्हारे नाम का सिंदूर
मेरी कलाई पर तुम्हारे नाम का शंख
मेरे अखिल चराचर में अब सिर्फ तुम हो
सात बार घूमती हूं और सात बार इस दुख को अंगीकार करती हूं
यह समूची सृष्टि मधुमय हो
सुनती हूं मैं
बिना पीछे देखे छोड़ती हूं पिता का घर
और घिसटती हूं तुम्हारे पीछे–पीछे"[9]

आलोचक धर्मवीर इस सत्य को सामने रखते हैं – "जब औरत अपने पेट के लिए रोटी नहीं जुटा पाती तो वह पुरुष पर आश्रित होती ही है। मानव सभ्यता कहीं तक भी फिरे, कितने भी दिमागी कानून बनाए, किंतु औरत को निठल्ली घर में रखकर नारी जीवन की दुर्दशा समाप्त नहीं की जा सकती।

वास्तव में ऐसे हिंदू परिवार कच्ची मिट्टी और बालू के ढेर पर बने होते हैं, जिन घरों में औरतें नहीं कमाती।"[10]

स्त्रियों के परावलंबन और विवाह की अनिवार्यता के बीच एक सूक्ष्म संबंध तो बनता है। स्त्री स्वावलंबन उसे आजादी की तरफ ले जा सकता है, उसे निर्णय लेने की स्वतंत्रता दे सकता है, लेकिन विवाह–संस्था को समाप्त नहीं कर सकता। हाँ, वैवाहिक संबंधों को समानता के स्तर पर स्थापित अवश्य कर सकता है। किंतु उतने सीधे तौर पर भरण–पोषण की समस्या को हिंदू विवाह का आधार मानना विवाद के इस दौर में उतना महत्वपूर्ण नहीं लगता। क्योंकि जीविका या भरण–पोषण ही विवाह को अनिवार्य नहीं बनाता, बल्कि सामाजिक स्तर पर स्वीकृति की भावना स्त्रियों के लिए विवाह को अनिवार्य बनाती है।

आगे चलकर महादेवी वर्मा अपने पिछले तर्क का खंडन करती हैं – "यदि ऐसा होता तो प्रथा का नाम भी न रह गया होता।"[11]

आर्थिक सुरक्षा के अतिरिक्त, हमारे यहाँ विवाह स्त्रियों को पुरुषों द्वारा बनाई गई असुरक्षित दुनिया से बचा कर घरेलू सुरक्षा देता है। ऐसे में स्त्री के लिए विवाह और भी जरूरी बन जाता है। चूंकि विवाह पुरुष की अपेक्षा स्त्री के लिए अधिक अनिवार्य दिखता है, इसलिए विवाह के पश्चात पुरुष घर का अधिपति बनता है और स्त्री भार्या अर्थात् जिसका भार ढोना पड़ता है। भृत्य और आर्या शब्द की व्युत्पति एक ही है। विवाहित जीवन में इस शब्द का अर्थ और अधिक खुलता है जिसमें स्त्री की मुख्य भूमिका गृहकार्य तक ही सीमित रहती है। हिंदू स्त्रियों का जन्म से युवा होने तक का समय केवल इसी भूमिका की तैयारी में बीतता है। वह कैसे उठे, बैठे, कैसा व्यवहार करे, कैसे जिए, यह सब हजारों पीढ़ियों से पुरुषों ने तय कर रखा है। वही संस्कार के रूप में उसके खून में रच–बस गया है। वास्तविक ज्ञान के अभाव में वह सभी पुरानी धारणाओं, सभी तौर–तरीकों को सत्य मान लेती है। वही उसका धर्म है और वही ईश्वर की मर्जी। ऐसे 'धर्म' के घरेलू कर्मकांडों को पूरी श्रद्धा से निभाती एक औसत घरेलू स्त्री की विडंबनापूर्ण स्थिति इन पंक्तियों से उजागर होती है–

"बहरूपिया है माँ
अंडा देख उबकाने वाली
पिता के लिए मांस पकाती माँ,
दिन में बहुपन बचाती
रात में गोबर पाथती माँ
पिता की खैनी मलती
आँसुओं से
गीली होती माँ
खुरदरे हाथों से आंगन चिकनाती
किसी कोने में भात घोंटती माँ"[12]

हिंदू समाज में स्त्री और पुरुष में उतना ही फर्क समझा जाता है जितना समाज की जाति–व्यवस्था में ब्राह्मण और शूद्र में। बहुत बारीकी से पड़ताल की जाए तो यह साफ दिखाई देगा कि जाति–व्यवस्था के मोटे विभाजनों के ऊपर स्त्री और पुरुष वर्ग के विभाजन की एक पतली परत है। इस विभाजन का मूल आधार जीविका न होकर एक वर्ग की स्वार्थ आधारित प्रकल्पनाओं पर टिका है।

स्त्री सबसे पहले स्त्री है बाद में कुछ और। सभी व्यवहारों को स्त्रियोचित और पुरुषोचित वर्गों में बांटा गया है। स्त्री और पुरुष की प्राथमिकताओं में अंतर है। जो पुरुष के लिए उचित है वही स्त्री के लिए अनुचित। स्त्री की दुनिया अपने समूचे अर्थ में पुरुष की दुनिया से जुड़ती है, लेकिन पुरुष की दुनिया इस अर्थ में स्त्री से नहीं जुड़ती है। स्त्री और पुरुष के संबंध में बराबरी का दावा करते हुए 'अर्द्धांगिनी' शब्द से स्त्री को फुसलाने वाला यह समाज चाहे अपने सभी व्याकरण और धर्मशास्त्र छान मारे, किंतु उसके जोड़ का पुल्लिंग शब्द नहीं ढूंढ सकता। वास्तव में मोहक शब्दों का यह मायाजाल स्त्री को आत्ममुग्धता की ओर ले जाता है और वह इस शब्द से उलझती हुई कठपुतली की तरह नाचती है। अपने विशिष्ट पद पर बने रहने

और अपनी अद्वितीयता को बनाए रखने के लिए उसे लगातार प्रयासरत् रहना पड़ता है। चूंकि वह स्त्री है इसलिए यह या वह काम उसे शोभा नहीं देगा। वह वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ तक वह समाज के लिए उपयोगी होती है। इस समाज में 'स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है।'[13]

हमारे धर्मशास्त्र, लोकधर्म, सामाजिक, सांस्कृतिक मान्यताएँ उसे स्त्री कहे जाने वाले रूप में ढालते हैं और सामाजिक मान्यताओं का पुरुष–केंद्रित बुनियादी ढांचा धीमे–धीमे उसके जीवन को खोखला बना देता है।

1.3 हिंदी में स्त्री–लेखन और कहानी की दुनिया :

हिंदी कहानी–लेखन में लेखिकाओं का योगदान, खासतौर पर, आजाद भारत के बाद की बदली आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण संभव हो पाया। आजाद भारत की कहानी–यात्रा में तो इनकी भागीदारी जमकर हुई है। न केवल भाव के स्तर पर, बल्कि शैलीगत विकास में भी लेखिकाओं की कहानियाँ किसी भी मामले में पुरुष कहानीकार से कम नहीं हैं। इन्होंने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज के सूक्ष्म–से–सूक्ष्म पक्षों का विश्लेषण बहुत ही सफलतापूर्वक कहानी द्वारा प्रस्तुत किया है। इनकी कहानियाँ इनके वैयक्तिक इच्छाओं, द्वन्द्वों, कुंठाओं, संत्रासों और पीड़ाओं को ही अभिव्यक्त कर चुप नहीं रह गई हैं, बल्कि कहानी के विकास के साथ–साथ सामाजिक विकास के सारे प्रतिमानों को नए संदर्भों में व्याख्यायित करने का अभियान भी इनके कहानी–लेखन में दिख जाता है। सदियों से पारंपरिक एवं रूढ़िवादी पुरुष–प्रधान समाज की यंत्रणाओं को झेलने वाली नारियों के लिए स्वतंत्र भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का माध्यम उनकी कहानी–कला भी साबित हुई है। अपने सारे वैयक्तिक अधिकारों के उद्‌गार के द्वारा लेखिकाओं ने कहानी–लेखन को गति प्रदान की है।

कहानी एक ऐसा सशक्त माध्यम है जो पीड़ित और शोषित श्रेणी से संबंधित नारी का वरदान होकर साहित्य में उपस्थित हुई और जिसमें अधिकांशतः नारी संवेदना को व्यक्त किया जाना आसान और प्रभावी हुआ।

स्वतंत्रता के तुरंत बाद के कहानी–लेखन में नारियों की भागेदारी शायद थोड़ी कम दिखाई दे सकती है। लेकिन बाद के दौर में तो नारी–लेखन, महिला–लेखन या स्त्री–लेखन पर उठे जोरदार बहस ही इस तथ्य को प्रस्तुत करते हैं कि लेखिकाएँ कहानी–लेखन में भी जमकर हिस्सा लेने लगीं।

स्त्रियों द्वारा लिखी कहानियों में व्यक्त नारी चेतना का अलग से विश्लेषण करने का अर्थ यह नहीं कि हम उनके प्रति कोई रियायत चाहते हैं। स्वयं हमारे इस मौजूदा दौर में महिला लेखिकाओं की इस नारी चेतना में अभी बहुत सी खामियाँ नजर आती हैं।

स्त्रीवाद का सबसे बड़ा मुद्दा है – स्त्री के विरुद्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हिंसा। बिना नग्न वर्णन के उस नग्न हिंसा का प्रतिरोध कैसे किया जा सकता है, जिसे स्त्रियाँ आए दिन घर–बाहर सहन करती हैं। समाज का नैतिक ढांचा, जो ऐसे वर्णनों का विरोध करता है, अगर किसी काम का होता तो यह हिंसा होती ही क्यों? नैतिक व्यवस्था की इमारत ढह चुकी है, फिर भी नैतिकता के ठेकेदार कभी संस्कृति तो कभी परिवार की दुहाई देकर स्थितियों को जस–का–तस रखना चाहते हैं। सत्ताध्यक्ष की तरह शांति और स्थिरता की वकालत करते हैं। हिंसा के शिकार को भी सहनशक्ति और धैर्य का उपदेश देना वे अपना परम् कर्तव्य समझते हैं। स्त्रियों के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं स्त्री को, अचेतन स्तर पर भी पुरुष वर्चस्व को स्वीकारने वाली संस्कारों में जमी रूढिग्रस्त मानसिकता से मुक्ति पानी होगी। समाज में नारी आज भी दोहरे मानदंडों की विडंबना के मध्य अपना जीवन जी रही है। वैदिक साहित्य में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवता' से लेकर ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी तक की यात्रा तय करता उसका जीवन 21वीं सदी के द्वार पर खड़ा हुआ कुछ आश्वासन चाहंता है। परंपरागत पुराण–कथाओं के कर्मकांडों के बहिष्कार की आवश्यकता पर बल देकर अघोषित निर्णयों की मूल संरचना को तोड़ना आज जरूरी हो चुका है। धरती से स्त्री की तुलना करने वाले उसकी अंतर्व्यथा को अनुभूत कर क्या कभी यह महसूस नहीं कर पाते कि एक ही धुरी पर घूमते–घूमते उसके अंदर स्वतंत्र विचरण की आकांक्षा भी कभी जन्म लेती

होगी। स्त्री की स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकार करता भारतीय पुरुष समाज अंदर से डरा हुआ है, पर बाह्य रूप में परंपरा के उन्हीं खंभों का सहारा लेता है जिनके ऊपर पुरुष–वर्चस्व का महल टिका है। धर्म की दुहाई देकर निरंकुश पुरुष वर्ग बड़ी चतुराई से उसे मौन की कंदराओं में शिलावत् जीवन जीने को विवश कर देता है। 'नर ही स्वातंत्र्यम् अहर्ति' के मनु के महावाक्य ने नारी–पीड़ा का महाकाव्य लिखकर स्त्री के प्रति एकपक्षीय दृष्टिकोण की नींव रख दी थी। हर बार पुरुष द्वारा ही स्त्री को सीमाओं का ज्ञान कराया जाता है। आज आवश्यकता है स्त्री–पुरुष संबंधों के एक नए व्याकरण की ओर इन संबंधों को एक साफ–सुथरा, पारदर्शी और पूर्वाग्रह रहित स्वरूप प्रदान करने की।

प्राचीन भारतीय साहित्य के लंबे इतिहास में 'कवि' के रूप में स्त्रियों की आवाज विरल रही है। वैदिक ऋचाओं और थेरी–गाथाओं में जहाँ–तहाँ स्त्रियों की आवाज सुनाई पड़ती है, जिससे उनकी आत्माभिव्यक्ति के प्रयासों का पता चलता है। बाद में संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में स्त्री की रचनाशीलता के कम ही प्रमाण मिलते हैं। इससे भारतीय समाज में स्त्री की सामाजिक और सांस्कृतिक स्वाधीनता के अभाव का पता चलता है, क्योंकि स्वाधीनता रचनाशीलता की अनिवार्य शर्त है और साथ–साथ प्रमाण भी। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्री को दुःख का स्रोत माना गया, मैत्रायणी संहिता में स्त्रियों को पाँसा और सुरा के साथ तीन बुराईयों में गिना गया और वृहदारण्यक उपनिषद में उल्लिखित याज्ञवलक्य–गार्गी संवाद से ज्ञात होता है कि एक वाद–विवाद के दौरान याज्ञवलक्य ने गार्गी से कहा अधिक बहस न करो, अन्यथा तुम्हारा सिर तोड़ दिया जाएगा।

TH-12949

Jawaharlal Nehru Univ... Library

भारतीय साहित्य के इतिहास में भक्ति आंदोलन के साथ पहली बार कविता के क्षेत्र में सशक्त स्त्री–स्वर सुनाई पड़ता है। भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय आंदोलन था। वह विभिन्न क्षेत्रों की मातृभाषाओं में रचनाशीलता के उत्थान का भी आंदोलन था और भारतीय समाज में युगों से पराधीन समुदायों में आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के जागरण का भी आंदोलन था। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र की मातृभाषाओं में पहली बार बड़ी संख्या में स्त्रियों की

आत्माभिव्यक्ति के रूप में काव्य–रचना का विकास दिखाई देता है। इस काल में भारत की प्रत्येक भाषा में अनेक महत्वपूर्ण कवयित्रियाँ पैदा हुईं, जिनमें से कुछ ने अपनी भाषा की नई परंपरा के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और साथ ही स्त्री की रचनाशीलता के विकास का मार्ग भी प्रशस्त किया। हिंदी में ऐसी ही भक्त कवयित्री है – मीराबाई। हिंदी में मीरा का वही महत्व और स्थान है जो तमिल में अंदाल का, कन्नड़ में अक्का महादेवी का, कश्मीरी में लालदेई का और मराठी में बहिणा बाई और मुक्ता बाई का।

वैसे तो हिंदी में मीरा से पहले कुछ चारण कवयित्रियों के नाम मिलते हैं। जिनमें झीमा चारणी, पद्मा चारणी, काकरेची जी, बिरजू बाई आदि प्रमुख हैं। परंतु इनकी लिखी रचनाएँ प्रायः अनुपलब्ध हैं। इनकी रचनाओं के बारे में जितनी जानकारी मिलती है उससे उनकी काव्य–रचना के महत्व का बोध नहीं होता। फिर भी जिन विषम परिस्थितियों में जीते हुए उन्होंने जो काव्य–रचना की है उससे उनकी अभिव्यक्ति के प्रयासों का अनुमान किया जा सकता है।

हिंदी के वास्तविक और सशक्त स्त्री–काव्य का आरंभ मीराबाई की कविता से होता है। उनकी कविता में स्त्री की आत्मा की ऐसी आवाज सुनाई पड़ती है जो पराधीनता के बोध से बेचैन और स्वाधीनता की आकांक्षा से प्रेरित स्त्री की आवाज है। जिसे आजकल 'स्त्री–चेतना' कहा जाता है उसकी सशक्त अभिव्यक्ति पहली बार हिंदी में मीरा के काव्य में मिलती है। मीरा का समय, उस समय के समाज, उसकी सामाजिक–सांस्कृतिक बनावट और मीरा के परिवार को देखें तो उनके जीवन–संघर्ष के महत्व का वास्तविक बोध होगा।

मीराबाई उन बड़े और असाधारण रचनाकारों में से एक हैं जिन्होंने अपनी भाषा में नई तरह की रचनाशीलता की परंपरा का प्रवर्तन किया। उन्होंने अपने जीवन–संघर्ष और काव्य–रचना के माध्यम से हिंदी में स्त्री–काव्य परंपरा का मार्ग निर्मित किया है और उसे गहरे स्तर पर प्रेरित और प्रभावित भी किया है।

मीराबाई ने केवल मध्यकाल की स्त्री काव्यधारा को ही प्रभावित नहीं किया है। उनके जीवन–संघर्ष और कविता से आधुनिक काल की कवयित्रियाँ

भी प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करती रही हैं। मीराबाई ने भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति और पितृसत्तात्मक मूल्यों के वर्चस्व के विभिन्न रूपों के विरुद्ध विद्रोह किया था। मीरा के इस विद्रोह के महत्व को आधुनिक आलोचकों ने भले ही न स्वीकार किया हो, लेकिन मध्यकाल के ही भक्त कवि नाभादास ने मीरा के साहस, निर्भयता और विद्रोह के महत्व को पहचानते हुए लिखा था –

"भक्ति निसान बजाए कै, काहू तैं नाहिन लजी

लोक लाज कुल श्रृंखला, तजि मीरा गिरधर भजी"

स्वतंत्रता से प्रेम, संघर्ष का साहस और निर्भयता का भाव जैसा मीराबाई के काव्य और जीवन में है वैसा कबीर को छोड़कर भक्तिकाल के किसी अन्य कवि के यहाँ नहीं दिखाई देता। मीराबाई से महादेवी वर्मा के लगाव की बात जगजाहिर है। उनके काव्य पर मीराबाई के प्रभाव की चर्चा प्रायः की जाती है। यहाँ तक कि कुछ लोग उन्हें 'आधुनिक मीरा' भी कहते हैं। महादेवी वर्मा के समूचे साहित्य में एक स्त्री की उपस्थिति का अहसास हमेशा बना रहता है। कहीं एक स्त्री की छोटी–छोटी इच्छाओं और कामनाओं का चित्रण है तो कहीं तद्युगीन सामाजिक परिस्थितियों में उनके पूरी न हो पाने की पीड़ा का अहसास पूरी शिद्दत के साथ होता है। पीड़ा की अतिशयता के कारण इनके साहित्य में स्त्री कहीं–कहीं संसार की ओर पीठ करके बैठ जाती है। प्रतिवाद की यह भी एक भाषा है – अस्वीकार की भाषा।

विवेच्य संदर्भ में आधुनिक काल से हिंदी कहानी की समूची विकास–प्रक्रिया से सिर्फ हिदी कथा–लेखिकाओं को स्वतंत्र रूप में रेखांकित करना एक तरह से युगीन कहानी–लेखन की प्रवृत्तियों के मूल्यांकन के स्तर पर असंगत होगा। अतः प्रस्तुत विवेचन में युगीन कथा–लेखन की संपूर्ण प्रवृत्तियों को संकेतित किया गया है।

हिंदी कहानी की परंपरा का विकास इंशा अल्ला खां की कहानी 'रानी केतकी की कहानी' से माना गया है। इसके बाद राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद की 'राजा भोज का सपना' उपदेशात्मक कहानी मिलती है। इसी काल में

भारतेंदु की हास्य रस प्रधान कहानियों का भी उल्लेख मिलता है। निबंध के रूप में आने वाली प्रारंभिक गद्य रचनाओं में कथात्मकता का रूप कहीं–न–कहीं अवश्य मिलता है। इसका मुख्य कारण यह था कि कथा के माध्यम से पाठक जल्दी आकर्षित होते हैं।

प्रारंभिक कथा–लेखन लोकजीवन और लोकमानस की अभिव्यक्ति करता है जिसमें मनोरंजन का प्राधान्य होने के साथ–साथ आदर्शवादी रूप उभरा है। कहानियों में विचित्र प्रकार की भावुकता, रहस्यात्मकता, कौतूहल के दर्शन होते हैं और पुरातन मूल्यों के प्रति मोह भी झलकता है। भारतेंदु के पश्चात गद्य–लेखन में निबंध विधा का अधिक विकास हुआ। सन् 1900 के बाद हिंदी कहानी की विकास–यात्रा में तीव्रता आई। इस समय किशोरी लाल गोस्वामी की 'इंदुमती', रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', बंग महिला की 'दुलाईवाली' आदि कहानियों के नाम मिलते हैं। ये कहानियाँ मनोरंजन के साथ–साथ सामाजिक सरोकारों से जुड़कर चलती हैं। ये कहानियाँ मानवीय संदर्भों और यथार्थ की अभिव्यक्ति की संभावनाओं की कहानियाँ हैं। इन कहानियों में घटनाओं का प्राधान्य है। इसमें जादुई चमत्कारों को नहीं लिया गया। फिर भी यह रचनात्मक चमत्कार उत्पन्न करती हैं। घटनाओं का वर्णन इतिवृत्तात्मक रूप में मिलता है।

हिंदी कहानी की विकास–यात्रा का प्रारंभ देखें तो सबसे पहले ही महिला कहानीकार का नाम आता है। लेकिन इस समय महिला कहानीकारों का नाम कम ही मिलता है। इनके लेखन का अध्ययन करें तो इस काल का महिला–लेखन पारिवारिक सरोकारों का चित्रण करता है। बंग महिला की 'दुलाईवाली' कहानी तत्कालीन सामाजिक जनजागरण को चित्रित करती है। दुलाईवाली का पात्र वंशीधर स्वदेशी का समर्थन करते हुए कहता है – "नहीं एक देशी धोती पहनकर आना था तो भूलकर विलायती ही पहन आए। नवल कट्टर स्वदेशी हुए हैं न। वे बंगालियों से भी बढ़ गए हैं। देखेंगे तो दो चार सुनाए बिना न रहेंगे और बात भी ठीक है। ...नाहक विलायती चीज लेकर क्यों रूपए की बरबादी की जाए? देशी लेने से भी दाम लगेगा, सही, पर रहेगा तो

देश में ही।"[14] प्रस्तुत कथन लेखिका की समकालीन जागरूकता को व्यक्त करता है। 'भाई–बहन' कहानी में भी देशभक्ति का चित्रण किया गया है। आरंभिक लेखन को परखा जाए तो जिस प्रकार शिक्षा का अभाव और परंपरागत रूढ़ियों से जकड़े समाज में स्त्री रचनाकारों द्वारा इस तरह की कहानियाँ लिखना सचमुच एक सराहनीय कार्य रहा है। इसे किसी भी प्रकार नकारा नहीं जा सकता इसी समय यशोदा देवी का नाम भी आता है। उनके संबंध में काल–निर्धारण मुश्किल है लेकिन कहानी के क्षेत्र में उनका योगदान रहा। 1909 के करीब उनकी लिखी कहानियाँ पत्रिकाओं में छपी थीं। कहानियों का मुख्य चरित्र स्त्री–पात्र थीं। इन्होंने पारिवारिक और पौराणिक विषयों पर लिखा।

इस युग के महिला कथा–लेखन के मुख्य सरोकार सुधारवादी और समन्वयवादी दोनों तरह के हैं। नारी की स्थिति का चित्रण है, पर विरोध कहीं भी नहीं है। 1911–1916 ई. से लेकर आज के समय तक हमारा कहानी साहित्य विषय व्यापकता, गंभीरता, कलात्मकता एवं शिल्प विधान की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध बन चुका है। कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद जैसे प्रबुद्ध कहानीकार का उदय हुआ। कहानी की दिशा बदली। इस युग की कहानियों में आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद की सृष्टि हुई। कहानी के शिल्प में आशातीत प्रौढ़ता और परिष्कार दिखाई देता है।

इस समय यथार्थ का चित्रण कर आदर्श को आरोपित कर दिया जाता है। अंत तक आते–आते प्रेमचंद में आदर्श के मोह से मुक्ति और यथार्थ की जटिल परतों का उद्‌घाटन मिलने लगता है। अनमेल विवाह, दहेज से मुक्त परिवार, वेश्यागमन, जातीय विद्वेष, वर्ग–विषमता, स्वच्छंद प्रेम, अनाचार, सामाजिक–आर्थिक असुरक्षा से उत्पन्न नारी वर्ग का असंतुलित प्रेम आदि इस युग की उनकी कहानियों के विषय हैं। दूसरा वर्ग प्रसाद जी का आता है जिन्होंने अंतर्द्वन्द्व वाली कहानियों की रचना की। उनकी कहानियों में चरित्रों की प्रधानता मिलती है। आरंभिक रचनाओं में यह चित्रण इतिवृत्तात्मक है लेकिन प्रसाद ने रोमानी भाव प्रधान कहानियों का चित्रण किया है।

तीसरा वर्ग ऐतिहासिक कहानियों का आता है। इन कहानियों में इतिहास से प्राप्त विरासत की एक बार फिर से छानबीन की गई। प्रसाद ने ऐतिहासिक कहानियों के माध्यम से जातीय अस्मिता का चित्रण किया। चौथा वर्ग कलात्मक कहानियों का आता है। इसमें भावुकता प्रधान कहानियाँ लिखी गई और काव्यात्मक भाषा का प्राधान्य रहा। गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कलात्मक और भावगत स्तर पर विलक्षण थी।

प्रेमचंद युग की मुख्य महिला कहानीकारों में हेमंत कुमारी, चौधरानी, प्रियवंदा देवी, सरस्वती देवी, श्रीमती ठाकुर शिव मोहिनी, कुंती देवी, मिश्र महिला, शारदा कुमारी आदि के नाम आते है। इस समय की महिला कहानीकारों के मुख्य सरोकार नारी की सामाजिक स्थिति और अशिक्षा के दोषों का चित्रण रहा। शिव मोहिनी की कहानियाँ विधवा विवाह, रूढ़िवाद का त्याग आदि विषयों को लेकर लिखी गई। इनकी 'सुशीला' और 'ललिता' अधिक प्रसिद्ध हुई। 'सुशीला' विधवा स्त्री की कहानी है जो समाज के कुचक्रों में फंसकर आत्महत्या कर लेती है। ललिता पुनर्विवाह कर लेती है। कुंती देवी का लेखन भी तत्कालीन रूढ़ि का विरोध करता है। शारदा कुमारी इस युग की मुख्य लेखिका थीं जिन्होंने नारी समाज की समस्याओं का चित्रण तो किया ही, मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी अभिव्यक्ति की। इनकी 'विधवा' और 'प्रतिज्ञा भंग' सामाजिक कहानियों की श्रेणी में आती हैं। 'प्रतिज्ञा भंग' का नायक कहता है – "हमारा देश आज नर्क में गर्क हो रहा है। सामाजिक कुरीतियाँ विकट रूप से फैली हुई हैं। बाल विवाह, वृद्ध विवाह, बहुविवाह, पर्दाप्रथा, अशिक्षा, बालमृत्यु, स्त्री–हत्या, छुआछूत, विधवाओं पर अनाचार इत्यादि भयानक व्याधियाँ देश की जड़ को खोखला बना रही हैं। सामाजिक रीतिरिवाज देशोद्वार की टांग तोड़ रहे हैं।"[15]

'विधवा' में विधवा मालती को तंग करते हुए उसका देवर कहता है – "वाह तुम यही समझती हो, कि तुम्हारे साथ मेरे माता–पिता या समाज मुझे भी छोड़ देगा? सो मत समझो। मेरा समाज ऐसा नहीं है कि वह पुरुषों को कुकर्म

के लिए सजा दे। यह सब दुर्दशा तुम्ही स्त्रियों के मत्थे है।"[16] कहीं–कहीं आर्य समाज के सिद्धांतों का समर्थन किया गया है।

श्रीमती प्रियम्बदा देवी का कथा साहित्य सामाजिक सरोकारों को चित्रित करता है। 'होली की रात' कहानी में समाज की आर्थिक दुर्दशा का चित्रण किया गया है। श्रीमती विद्यावती की 'लीलावती' कहानी में प्रेम–विवाह की चर्चा दोष रूप में की गई है।

इस काल की अन्य कहानीकारों में शिवरानी देवी, मुन्नादेवी, भार्गव विमला, देवी चौधरानी भी हैं। इन्होंने तत्कालीन सामाजिक–राजनैतिक परिवेश में नारी की स्थिति को लेकर कहानियाँ लिखीं । कुछ कहानियाँ देश–प्रेम की भावना को भी चित्रित करती हैं।

प्रेमचंद युग की महिला कहानीकारों का उल्लेख करें तो इनका मुख्य सरोकार नारी की सामाजिक स्थिति का ही चित्रण है। इस काल के मुख्य सरोकारों में विधवा, बाल विवाह, आर्थिक परतंत्रता जैसी समस्याएँ रहीं। नारी की महत्ता को पारिवारिक स्तर पर स्पष्ट किया गया है। इस काल के लेखन में परिपक्वता मिलती है। पर इसकी संवेदना में पुरातन और नवीन मूल्यों का संक्रमण अधिक मिलता है। प्रायः हर लेखिका घर–परिवार में नारी की आदर्श स्थिति का चित्रण करती है लेकिन कुरीतियों का विरोध करती है, लेखन में समन्वय और सामंजस्य की भावना प्रबल रूप में मिलती है। इस समय शिक्षा का प्रचार कम था। अतः कुछ ही महिला कथाकारों के नाम मिलते हैं। इन का साहित्य–लेखन में महत्वपूर्ण योगदान न रहा हो पर नारी–लेखन की विकास–प्रक्रिया की दृष्टि से इन सबका उल्लेख महत्वपूर्ण बन जाता है। क्योंकि बहुत सराहनीय योगदान तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन लेखन कार्य में अपनी समस्या को चित्रित करना उनके जागरूक दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। पारिवारिक स्तर पर उनकी अभिव्यक्ति काफी सराहनीय बन पड़ी है।

प्रेमचंदोत्तर युग तक आते–आते कहानी का केंद्र–बिंदु व्यक्ति की मानसिक स्थिति का चित्रण करना हो गया था। कहानी का मुख्य पात्र व्यक्ति था। इस युग में लेखक का मुख्य दृष्टिकोण पात्रों के आंतरिक स्वरूप का

उद्‌घाटन और दार्शनिक चिंतन करना था। अज्ञेय, इलाचंद जोशी और जैनेंद्र की कहानियाँ इस युग में प्रातिनिधिक रूप से मिलती हैं। जैनेंद्र ने अंतर्द्वंद्व के द्वारा मानवीय भावनाओं की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की है। जबकि अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी जैसे कहानीकारों ने दमित वासनाओं और कुंठाओं का चित्रण किया है। इनके पात्र फ्रायड के यौन मनोविज्ञान के कृत्रिम सांचों में ढले हुए एक ही लकीर पर चलते हैं। उनमें जीवन के विविध घात–प्रतिघात का चित्रण नहीं है। इसी समय हिंदी कहानी क्षेत्र में यशपाल का नाम आता है। इन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर कहानियाँ लिखीं और प्रेम संबंधों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति इनकी रचनाओं में देखने को मिलती है। महिला कहानीकारों ने भी मनोविज्ञान को आधार बनाकर लिखा। साथ ही देशप्रेम की भावना से ओतप्रोत होकर कहानियों की रचनाएँ की गई।

इस युग में संपूर्ण कहानी–लेखन व्यक्ति की अस्मिता को लेकर हुआ। समाज में व्यक्ति प्रधान है न कि समाज के लिए व्यक्ति प्रधान है। फ्रायड के दर्शन से प्रभावित कहानियों का विकास हुआ। प्रेमचंद ने अंतिम अवस्था में यथार्थवादी आग्रह को लेकर कहानियाँ लिखीं थी। अतः यथार्थवादी कहानियों की रचना होने लगी। महिला कहानीकारों ने भी पारिवारिक एवं सामाजिक कहानियों के साथ–साथ राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखीं। इस काल में होमवती देवी, कमला चौधरी, उषा देवी मित्रा, सुमित्रा चौहान, शिवरानी देवी, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, तेज रानी पाठक आदि का नाम आता है।

उषा देवी मित्रा ने अनेक कहानियों और उपन्यासों की रचना की। इन्होंने भावपूर्ण रोमानी कहानियों की रचना की। उपेंद्रनाथ अश्क का मत है "कि इसे मैं हिंदी का दुर्भाग्य ही मानता हूं कि उन्होंने इतना लिखा, इतनी कहानियाँ, इतने उपन्यास लिखे लेकिन आज बहुत से लोग उनके नाम से परिचित नहीं है।"[17] उषा देवी मित्रा के लेखन का समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ जबकि जन्म से बंगाली होते हुए भी उन्होंने हिंदी की अभूतपूर्व सेवा की। उषा देवी मित्रा का कथा–संसार सामाजिक और ऐतिहासिक दो धाराओं में बंटा हुआ

है। सुभद्रा कुमारी चौहान ने कविता के क्षेत्र में लेखनी तो चलाई ही, साथ ही कुछ कहानियों की भी रचनाएँ की। इनके कहानी संग्रह 'बिखरे मोती' में ऐसी अनेक कहानियाँ हैं जो राष्ट्रीय भावना को उजागर करती हैं। इन्होंने नारी समस्याओं को भी विषय बनाया है। इनकी कहानियाँ आदर्शोन्मुख यथार्थ की अभिव्यक्ति करती हैं। इन्होंने सामाजिक समस्याओं के खिलाफ समस्या–समाधान मूलक कहानियों को आदर्श रूप में प्रकट किया, पुरुष–प्रधान समाज में नारी की दयनीय स्थिति का चित्रण किया। विधवा–विवाह और स्वेच्छा से पति का चुनाव – इन प्रवृत्तियों को भी सुभद्रा जी की कहानियों में स्थान मिला है। 'किस्मत' कहानी में वे विधवा विवाह का समर्थन करती हैं।

हेमवती देवी विधवा थीं। अतः उन्होंने समाज से संबंधित कहानियों में परिवार को ही धुरी बनाया। अश्क जी का विचार है कि – "वे बहुत प्यारी पारिवारिक कहानियाँ लिखती थीं। उनकी रचनाओं में वह चीज नहीं थी, जिसे आज बोल्डनेस कहा जाता है। बल्कि कुछ अजीब सी स्वच्छ पावन सात्विकता थी।"[18] हेमवती देवी ने पारिवारिक धरातल को बखूबी चित्रित किया है। उन्होंने विधवा के प्रति असह्य व्यवहार, पति द्वारा पत्नी का तिरस्कार जैसी समस्याएँ उठाई हैं। 'गोरे की टोपी' उनकी प्रसिद्ध कहानियों में से है। हेमवती जी ने रेखाचित्र और कुछ व्यंग्य–प्रधान रचनाओं की भी सृष्टि की।

नारी के संबंध में परंपरागत सामाजिक बंधनों की पड़ताल कर उसके प्रति विरोध दर्ज कराने वाली लेखिका सुमित्रा कुमारी सिन्हा है। इनकी कहानियों के पात्र पुरुष समाज के खिलाफ आवाज उठाते हैं। पुरुष ने नारी को आर्थिक रूप से न केवल कमजोर बनाया है बल्कि उसकी स्थिति को निम्नस्तरीय बनाकर रख दिया है। 'वह भूल' कहानी की लेखिका ने कहा है – "संसार इन्हीं पुरुषों द्वारा रचे हुए समाज के जीवन को 'सुख' और 'स्वर्ग' का नाम देता है। निष्ठुर पुरुष जाति, जिसकी झूठी सहानुभूति में स्वार्थ छिपा हुआ अपना विकृत मुंह दिखाता है, हमसे आशा करता है – सदाचार की, पातिव्रत्य की, झूठे आदर्शवाद की, हमें बंधन में जकड़कर अपने उपयोग में सदा सर्वदा आते रहने की। वास्तविकता के परिचय ने कल्पना को दूर फेंक दिया। ओह!

कुछ नहीं। ऐसे समाज में क्षुद्रता, संकीर्णता, भ्रमजाल में रहकर कहीं शांति नहीं, सुख नहीं, संतोष नहीं।"[19]

"पुरुष को कोई नहीं कहता, स्त्री को पीस डालने को सब तैयार हैं। तो यह सब जानते हुए भी जब मैं इस भूल में पड़ ही गई हूं तो पछताकर ही क्या करूं? सोचती हूं क्यों? रोती हूं लेकिन फिर भी सदियों से पिसी हुई नारी के समाजगत संस्कार उसे उत्पीड़ित कर रूला ही देते हैं।"[20]

कमला चौधरी का नाम आधुनिक कथा–साहित्य की विकासधारा में मुख्य है। उन्होंने अपनी कहानियों में पात्रों की सृष्टि नये रूप में की है। उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ 'साधना का उन्माद', 'पिकनिक' आदि है। 'साधना का उन्माद' कहानी की नायिका सभी सुख–सुविधाओं से संपन्न है, फिर भी वह स्वयं को असंतुष्ट और अभावग्रस्त महसूस करती है। यह कहानी मनोवैज्ञानिक आधार पर लिखी गई है। अश्क जी का मानना है कि जैनेंद्र जी ने अपनी कुछ कहानियों की रचना इसी से प्रेरणा लेकर की है – "यह कहानी बहुत प्रसिद्ध हुई थी और इसी से प्रेरणा लेकर जैनेंद्र जी ने अपनी कुछ भाभी मार्का कहानियाँ लिखी थीं। देखा जाए तो उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'सुनीता' का भी आधारभूत विचार अंततः यही है।"[21]

इसके अतिरिक्त कमला चौधरी ने प्रेम–संबंधों पर भी कुछ कहानियों की रचना की हैं और सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ भी कहानियाँ लिखी हैं।

महादेवी वर्मा का हिंदी साहित्य में अनन्य योगदान है। उन्होंने कहानियों की तरह की संस्मरणात्मक कथाएँ लिखीं, जो हिंदी साहित्य की अपूर्ण निधि है। महादेवी वर्मा ने निम्न वर्ग के पात्रों को भी अपनी कथाओं में चित्रित किया है और पुरुष पात्रों की अन्याय की झांकी दिखाई है – "एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष समाज स्त्री से प्रतिशोध लेने को उतारु हो जाता है और एक स्त्री के साथ क्रूरतम अन्याय का प्रमाण पाकर भी सब स्त्रियाँ उसके अकारण दण्ड को अधिक भारी बनाए बिना नहीं रहतीं।"[22] साथ ही महादेवी जी ने कुछ पुरुष पात्रों के सजीव रेखाचित्र खींचे हैं जिनमें धीसा, रामा, ठकुरी बाबा आदि मुख्य हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ' में प्रतिवाद का तीव्र

स्वर है। अपने समय की नारी चेतना को स्वर देते हुए वे उनके जीवन से जुड़ी समस्याओं को उठाती हैं। समस्याओं के कारणों की तह में जाते हुए वे पूरी–की–पूरी सामाजिक व्यवस्था की पड़ताल करती हैं। सदियों से रूढ़िवादी मान्यताओं एवं परंपराओं से छली गई नारी की पराधीनता की एक–एक कड़ी को टटोलती हैं और इन्हें तोड़ने के लिए स्त्री के भीतर मानसिक भूमिका का निर्माण करती हैं। इस क्रम में वे स्त्रियों का घर से बाहर निकलकर, समाज में उसकी सार्थक भूमिका को आवश्यक मानती हैं। क्योंकि समाज के प्रति अपना सार्थक सहयोग देने के बाद ही वह अपने अधिकारों का दावा कर सकेगी। दूसरे; घर के बाहर शिक्षा, कानून, चिकित्सा व राजनीति जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में रहकर स्त्री स्वयं अपने अधिकारों के लिए लड़ सकती है। स्त्री आंदोलन की मूल बागडोर स्त्रियों के हाथों में सौंपने का महत्वपूर्ण प्रयास इनके यहाँ दिखाई देता है।

स्त्रियों की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए वे स्त्री में विवेकपूर्ण व्यक्तित्व का होना अनिवार्य मानती हैं। इस बिंदु पर वे समकालीन स्त्री आंदोलन के लिए भी प्रासंगिक हो जाती हैं। महादेवी वर्मा के दो अंतिम रेखाचित्र 'बिबिया' और 'गुंगिया' के माध्यम से हम महादेवी जी के स्त्री–संबंधी विचारों को ठीक तरह से समझ सकते हैं। 'गुंगिया' समाज में शारीरिक अक्षमता का श्राप झेलने वाली स्त्री की करूण गाथा है। बिबिया, जिसका विवाह–संबंध उसके जन्म से पहले ही तय हो गया था, पांचवें वर्ष में उसका ब्याह भी हो गया। पर गौने से पहले वर की मृत्यु ने उस संबंध को तोड़कर जोड़ने वालों का प्रयास निष्फल कर दिया। ऐसी स्थिति में उच्चवर्ग की स्त्री का गृहस्थी बसा लेना जितना बड़ा अपराध है, नीच वर्ग की स्त्री का अकेला रहना वैसा ही सामाजिक अपराध है।

ऊँचे तबके की विधवा भाभी और नीच कहलाने वाले तबके की बिबिया, दोनों के जीवन की विडम्बना को देखते हुए लगता है कि सामाजिक व्यवस्था में ऊपर से नीचे तक नारी के लिए जीने की एक सी शर्त है – पुरुष का वर्चस्व स्वीकार करना।

अल्पायु में विधवा हुई बिबिया को समाज तो क्या उसका पति भी बेकसूर नहीं मानता – "नशे में बेसुध होने पर भी पति ने अपने आपको अपमानित अनुभव किया। दांत निपोर और आंखें चढ़ाकर उसने अवज्ञा से कहा – ब्याहता। एक तो भच्छ लिहिना। अब दूसरे के घर आई है।"[23]

बिबिया अनुभव करती है कि वह ऐसी गाय या बछिया नहीं जिसे चाहे कसाई के यहाँ बेच दिया जाए या वैतरणी पार उतरने के लिए महाब्राह्मण को दान कर दिया जाए। घर से बार–बार निकाली जाने वाली बिबिया जब तीसरे ब्याह के बाद नहीं निकाली जाती तो महादेवी वर्मा सोचती हैं – "शायद लड़की पालतू हो गई।"[24]

किंतु वह पालतू नहीं हो पाती, जिसका दण्ड उसे प्राण देकर चुकाना पड़ता है। वे लिखती हैं – "बिबिया तो विद्रोह की कभी न राख होने वाली ज्वाला थी, संसार ने उसे अकारण अपमानित किया।"[25]

महादेवी वर्मा के साहित्य में उनकी कविता जहाँ विषमता–विवशता और बंधनों के जकड़न भरे समाज में एक स्त्री के प्रतिवाद के रूप में आती है, वहीं उनका गद्य तत्कालीन स्त्री का इतिहास बनकर उभरता है जहाँ वैयक्तिक अनुभवों के साथ तथ्य भी महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने अनेक प्रताड़ित और लांछित स्त्रियों के जीवन चरित्रों को खोज तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में एक स्त्री की सही स्थिति को सामने रखा है। उनका स्वयं स्त्री होना स्त्री के इस इतिहास को और अधिक प्रमाणिक बनाता है।

'शृंखला की कड़ियाँ' में वे समस्या की तह तक जाती हैं और अपने अनुभवों और यथार्थ से आगे बढ़कर वर्तमान को बदल डालने का प्रयास करती दिखाई पड़ती हैं। यहाँ वे अपने समय की सीमाओं से भी आगे निकल जाती हैं। जिस समय वे लिख रही थीं उस समय स्त्री–मुक्ति की बात तो बहुत दूर, आधी से ज्यादा दुनिया स्त्री को गुलाम मानने के लिए तैयार थीं, तो मुक्ति कैसी? संकट समस्या से मुक्ति पाने से पहले उसे समझने का था। महादेवी वर्मा की लड़ाई दोहरे स्तर पर थी – एक तो स्त्री को उसकी गुलामी का अहसास दिलाना और दूसरे उसकी मुक्ति के लिए प्रयास करना।

चंद्रकिरण सौनरेक्सा ने काफी अच्छी कहानियों की रचना की, जिसमें 'आदमखोर' काफी प्रसिद्ध कहानी है। चंद्रकिरण जी की कहानियों में मानसिक और बौद्धिक संघर्ष का चित्रण व्याप्त है। इसके अतिरिक्त कौशल्या अश्क, सत्यवती मलिक आदि महिला कहानीकारों का नाम भी आता है। इस युग में महिला कहानीकारों के सरोकार पहले से बदलते नजर आते हैं। इस काल तक आते–आते साहित्य में नारी के सयंम, त्याग जैसे गुणों की बजाए उसके अधिकारों के प्रति उसे सजग कराया जा रहा है। साथ ही समाज में होने वाले शोषण के खिलाफ विद्रोह का स्वर भी प्रबल हुआ है।

राष्ट्रीय और देशभक्ति की कहानियाँ लिखी गई हैं। संपूर्ण लेखन में नये प्रकार का विकास मिलता है। कहानी विधा को मनोविज्ञान के स्तर पर लाया गया। इस काल की सर्वश्रेष्ठ कथाकारों मे कमला चौधरी, चंद्रकिरण सौनरेक्सा आदि का नाम आता है। महिला कथा लेखन विकास–प्रक्रिया काल के यह मुख्य स्तंभ हैं। सन् 1950 से नई कविता के समान कहानी के क्षेत्र में भी आधुनिक भावबोध का चित्रण किया गया। इसमें अनास्था, काल, कुंठा, संत्रास, क्षणवाद और घुटन तथा जीवन के प्रति वितृष्णा की अभिव्यक्ति मिलती है। नई कहानी में मूल्यगत विघटन व संक्रांत मनःस्थितियों का विश्लेषण किया गया है। इसमें यह विघटन नगर और ग्रामीण परिवेश दोनों ही स्तरों पर मिलता है। जीवन के तनाव, द्वंद्व, विडंबनापूर्ण स्थितियों का चित्रण नई कहानी में किया गया है।

नई कहानी के क्षेत्र में कुछ कहानीकारों का मुख्य विषय मध्यवर्गीय परिवार में स्त्री–पुरुष संबंधों का चित्रण रहा तो कुछ ने मूल्यगत संक्रमण को ग्रामीण स्तर और नगर स्तर दोनों पर ही व्यक्त किया। इनमें रेणु, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह का नाम मुख्य है। आजादी के बाद टूटते मूल्यों की अभिव्यक्ति, मोहभंग की स्थिति का चित्रण किया गया। साथ ही विभाजन की कहानियाँ भी लिखी गईं। इस काल की प्रमुख महिला कथाकारों में मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियम्बदा आदि का नाम आता है। इन्होंने महिला की पीड़ा को, नई चेतना को उसके संदर्भ में प्रस्तुत किया। उषा प्रियम्बदा ने संयुक्त परिवार

के बिखराव और नारी की स्वतंत्रता को अभिव्यक्ति प्रदान की है। अधिकतर स्थानों पर महिलाओं ने मध्यवर्ग की नारी का चित्रण किया है।

स्वतंत्रता के बाद हिंदी कहानी में व्यक्ति की ऊब, घुटन और अजनबीपन को चित्रित किया गया। नई कहानी तक आते–आते महिलाओं के लेखन में काफी परिपक्वता आ गई थी। महिला कथाकारों ने कुछ कहानियों में कुंठा, निराशा और संत्रास को चित्रित किया। मध्यवर्गीय जीवन में नारी के संघर्ष और पारिवारिक स्तर पर टूटन को व्यक्त किया गया है। परंपरागत मान्यताओं को तोड़ा गया और यौन संबंधों को मुख्य विषय बनाया गया। स्त्री–पुरुष संबंध को नये दृष्टिकोण से देखा गया।

उषा प्रियम्बदा और मन्नू भंडारी ने नारी की संवेदना को यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत किया है। आज के बदलते जीवन–संदर्भों में स्त्री–पुरुष के आपसी तनाव को बहुत गहराई से महसूस किया जा रहा है। पति–पत्नी का रिश्ता जो प्रेम, सौहार्द्र और त्याग पर टिका था, कहीं समाप्तप्राय होता जा रहा है। पति–पत्नी सहयोगी भाव से कहीं ज्यादा प्रतियोगी भाव से जीवन यापन कर रहे हैं। मन्नू भंडारी की कहानी 'ऊँचाई' में पति–पत्नी के संबंध कुछ इसी प्रकार के हैं। साथ–साथ रहकर भी शिशिर और शिवानी एक–दूसरे को अपरिचित महसूस करते हैं और करीब आने की कोशिश में दूर होते जा रहे हैं, "दोनों में से शायद कोई भी नहीं सोया था। हाँ उनके बीच का प्यार और अपनत्व सो गया था। एक ही पलंग पर दोनों के शरीर पास–पास लेटे थे पर मन के बीच एक अनंत दूरी आ गई थी।"[26]

'तीसरा आदमी' में पति–पत्नी के रिश्तों में यदि कोई तीसरा आदमी उपस्थित हो जाता है तो कैसी बेचैनी महसूस होती है यह दिखाया गया है। पति का अहंभाव और शंकालु स्वभाव अपने पत्नी के मित्र का सहर्ष स्वागत तो करता है पर उसके अंदर कुछ घुटन है। वह नाटक करता रहता है। शकुन अपने पत्नी के रिश्ते को भी बनाए रखना चाहती है और अपने मित्र के साथ संबंध भी। उषा प्रियम्बदा की 'मछलियाँ' के दाम्पत्य संबंधों में अजनबीपन की स्थिति आ गई है। 'बंद दराजों के साथ' में मन्नू भण्डारी ने प्रतीक के माध्यम

से स्पष्ट किया है – 'धीरे–धीरे मनों की दूरी शरीर में भी फैलती जा रही थी। और वे अनायास ही एक–दूसरे से अलग और अपरिचित हो गए।'[27] 'मित्रो मरजानी' में कृष्णा सोबती ने मित्रों के चरित्र को परंपरागत नारी से भिन्न स्वच्छंद प्रकृति का चित्रित किया है। 'मित्रो मरजानी' की भाषा एक अलग तेवर के साथ आती है। कृष्णा सोबती नायिका की भाषा पर बात करती हैं। भाषा का तेवर स्त्री के बदले तेवर का संकेत करता हैं। नायिका की भाषा पहली बार अपनी कामनाओं को इतनी स्वच्छंद रूप में व्यक्त करती दिखती है।

अविवाहित स्त्री–पुरुष संबंधों को भी नई कहानी में चित्रित किया गया है। 'यही सच है' प्रेम–त्रिकोण की कहानी है। यौन संबंधों का खुलापन और बदलते स्त्री–पुरुष संबंधों की नई मान्यता – 'ऊँचाई' और 'यही सच है' कहानी में मिलती है। उषा प्रियम्बदा ने स्वच्छंद प्रेम का चित्रण करते हुए 'कंटीली छांह' में वैवाहिक संबंधों के बारे में लिखा है – "जीवन की राह पर चलते हुए यदि कोई राही किसी पेड़ के छांह में खड़ा हो जाए, तो मैं उसे बुरा नहीं समझती, क्योंकि मैंने जाना है कि सुख क्या है।"[28]

अनेक कहानियों में परंपरागत नैतिक मूल्यों का ह्रास होता दिखाया गया है और पुरानी पीढ़ी के प्रति हीनता का भाव। 'वापसी' कहानी नैतिक बोध के विघटन को प्रस्तुत करती है। यहाँ पारिवारिक स्तर पर नैतिक मूल्यों का तेजी से ह्रास होता दिखाया गया है जिसने परिवार में पिता की स्थिति को ही बदल दिया है। जबकि पुराने समाज में पिता की स्थिति मुख्य थी। 'अकेली' कहानी की बुआ अपने को अजनबी स्थिति में महसूस करती है। बुआ में आक्रोश की स्थिति पैदा हो गई है। पति के आने पर यह आक्रोश बिखर जाता है। बुआ पुरानी पीढ़ी की है जो रिश्तों को बहुत गहराई से महसूस करती है।

'वापसी' के गजाधर बाबू अपने आप को मानसिक स्तर पर अकेला पाते हैं, पत्नी भी उनसे दूर हो जाती है। कहानी के अंत में – "वह चीनी के डिब्बों में इतनी रमी हुई है कि अब वही उसकी संपूर्ण दुनिया बनी है।"[29] पिता पुरातन संस्कारों के कारण अपने को समझने लगते हैं। समाज के स्तर पर काफी बदलाव आया। पुराने जीवन–मूल्य व्यर्थ से लगने लगे। भारतीय राजनीति ने

भी परंपरागत मूल्यों को नष्ट किया। एकाकी परिवार का निर्माण होने लगा। आर्थिक स्थिति ने भी संबंधों को दूर कर दिया और भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी जैसी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। कृष्णा सोबती के 'यारों के यार' का पात्र कहता है – "तरक्की आजकल काबलियत से नहीं मुंह घुमाई और पाँव घिसाई से मिलती है।"[30] इस कहानी में समाज संबंधी मूल्यों का ह्रास भी परिलक्षित होता है। पहले मूल्यों पर शालीनता का एक आवरण था, लेकिन अब वह पूर्णतः बदल गए हैं – "सूरी ने एक फटकार दी – चूतिया, साला किश्तों की कार में लट्टू बना घूमता है। किसी दिन हराम का चूना झड़ने पर आ गया तो सारी चिनाई धरी रह जाएगी।"[31]

नई कहानी में मन्नू भण्डारी, उषा प्रियम्बदा और कृष्णा सोबती का लेखन इतना सशक्त बन पड़ा है कि कुछ कहानियाँ हिंदी साहित्य की अप्रतिम निधि बन गई हैं। मन्नू भण्डारी की 'यही सच है', 'ऊँचाई'; उषा प्रियम्बदा जी की 'वापसी' और सोबती जी की 'यारों के यार' ऐसी ही कहानियाँ हैं। उन्होंने अपने लेखन से साहित्य की बहुत सेवा की।

सन् साठ के बाद कहानी के क्षेत्र में बदलाव आया और कहानियों में कटु यथार्थ का चित्रण किया गया है। सामाजिक जीवन–यथार्थ और मानव संवेदना की भरपूर पहचान इन कहानियों में मिलती है। गांव और शहरों के संदर्भ में लिखी गई सातवें दशक की कहानियों का मुख्य स्तर विद्रोह का रहा। सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों की पहचान कराती हुई, ये कहानियाँ अमानवीय और सामाजिक प्रभाव को उभारती हैं। इनमें आम आदमी के जीवन की आर्थिक विसंगति को भी चित्रित किया गया है। घूम–फिर कर कहानी लेखन अभी एक सा ही है लेकिन उसको विभिन्न आंदोलनों में बांट दिया गया है। सभी कहानियों में मध्यवर्ग का आम आदमी ही चित्रित किया गया है। लेकिन इनमें व्यवस्था के प्रति विरोध भी मिलता है। समकालीन कहानियाँ इसी प्रकार के आदमी को कथ्य बनाकर चली हैं। आठवें–नौवें दशक के प्रमुख कहानीकारों ने जहाँ एक तरफ अपने साहित्य में सामाजिक विसंगतियों को चित्रित किया, वहीं दूसरी तरफ उन्होंने बदलते यौन संबंधों का खुलासा भी

किया है। साथ ही ग्रामीण और नगरीय परिवेश में आम आदमी के संघर्ष को कहानी का कथ्य बनाया है। राजनीतिक के परिवेश से आक्रांत आदमी, चुनावी गुटबाजी और प्रगतिशीलता के मुखौटे पहने सहधर्मी पाखंडियों का भी पर्दाफाश किया गया है। जनवादी कहानियों के नाम पर लिखी कहानियाँ राजनीति पर आघात करती हैं।

साहित्य–धारा में विभाजन–रेखा खींचना पूर्णतः संभव तो नहीं, फिर भी सुविधानुसार कुछ विभाजन किया गया। हिंदी कहानी में साढोत्तरी पीढ़ी उस व्यक्ति को स्थापित कर रही है जो संत्रस्त और टूटा हुआ होते हुए भी जीवन से जूझ रहा है। उसमें जिजीविषा और संघर्षरत् रहने की लालसा है नवीन मूल्यों और मर्यादाओं की स्थापना का आग्रह है।

साठोत्तरी कहानीकारों में मुख्यतः ममता कालिया, राजी सेठ, शिवानी, मृदुला गर्ग आदि का नाम आता है। इस काल की महिला कहानीकारों का लेखन सशक्त है। यह पारिवारिक धुरी और नारी जीवन से ही संबंधित है, परंतु इसमें अनुभव की प्रामाणिकता इतनी अधिक है कि यह जीवन के यथार्थ को बहुत गहरे रूप में प्रस्तुत करता है। इन्होंने नारी की मनःस्थिति की अभिव्यक्ति नए रूप में की है।

ममता कालिया, शिवानी, मृदुला गर्ग आदि की कहानियों में नारी को आधुनिक समाज में किस प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है इसका सजीव चित्र उकेरा गया है। 'एक अदद औरत' में औरत की दयनीय स्थिति को चित्रित किया गया है तो 'लड़के' में आज की युवा पीढ़ी के भटकाव का चित्रण किया गया है।

अन्य महिला कथाकारों में दीप्ति खण्डेवाल, मंजुल भगत, निरूपमा सेवती, मेहरूनिसा परवेज, चित्रा मुद्गल ने भी आज की परिस्थिति में टूटते हुए मानव को चित्रित किया है। दीप्ति खण्डेलवाल के पात्र महानगरीय सभ्यता से ग्रस्त नजर आते हैं तो मेहरूनिसा परवेज के पात्र अजीब रोमानियत और भावुकता का चित्रण करते हैं तथा लोक अंचल को सजीव अभिव्यक्ति देते हैं। ऋचा शुक्ला की कहानियों के अधिकतर पात्र ग्रामीण अंचल के हैं। यहाँ ग्रामीण

परिवेश की जद्दोजहद, वहाँ के तनाव और नये संबंधों में पुरानी पीढ़ी के प्रति अवहेलना को सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। मंजुल भगत की कहानियाँ प्रेम संबंधों की तीव्रता को महसूस कराती हैं।

साठ के बाद की महिला कहानीकारों के सरोकारों का उल्लेख करें तो वे समाज के हर क्षेत्र को स्पर्श करती हैं। उनके लेखन में राजनीति और अन्य सामाजिक समस्याओं का चित्रण मिलता है। महिलाओं के लेखन के विषय में विद्वानों ने प्रश्नचिह्न लगा दिए हैं और उसे प्रायः निकृष्ट कोटि का घोषित किया है। यह उचित नहीं है। आज नारी अपनी भावनाओं को सत्य रूप में प्रस्तुत कर रही है। यह चित्रण इतना यथार्थ के धरातल पर है कि उसके संबंध में किसी प्रकार का प्रश्नचिह्न लगाना निरर्थक है। उनके अपने सरोकार हैं। नारी संबंधों के वृत्त में अभी खुद को बंधा हुआ महसूस करती है। वह इतनी तीव्रता से संबंधों को नहीं तोड़ सकती। इसकी प्रकृति पुरुष की तरह की इतनी स्वच्छंद नहीं है। अतः लेखन के क्षेत्र में भी यही प्रश्न उठा सकते हैं। विकास धीरे–धीरे आ रहा है। क्या आज हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि 'विमेन डिस्ट्रायड' की कहानियाँ सिमोन द बुआ न लिखतीं तो कोई पुरुष लिख सकता था?

अस्तित्ववादी विचारक सिमोन द बुआ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' में विश्व की तमाम स्त्रियों को उपेक्षिता के एक प्लेटफार्म पर लाकर खड़ा किया है, स्त्रियाँ जिनका परिवेश और समाज भले अलग है, परंतु नियति एक है। स्त्री क्या है – इस सवाल के बारे में आगे लिखती हुई सिमोन द बुआ कहती हैं कि एक पुरुष मानवीय पुरुष की विशिष्ट स्थिति पर एक पुस्तक लिखने का विचार नहीं करेगा। किंतु यदि मैं अपने आपको परिभाषित करना चाहूं तो मैं सर्वप्रथम यह कहूंगी – मैं एक स्त्री हूं।

"....एक पुरुष अपने आपको एक विशेष लिंग का व्यक्ति मानकर बात की शुरुआत नहीं करता। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग शब्द कानून, कागजात की तरह, रूप के मामले के प्रति साम्यतः प्रयुक्त होते हैं। यथार्थतः दो लिंगों का संबंध दो विद्युत खम्भों की तरह नहीं है, क्योंकि पुरुष सकारात्मक और तटस्थ दोनों

का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरणार्थ पुरुष शब्द का प्रयोग समूची मानव जाति के लिए सामान्यतः किया जाता है, दूसरी तरफ स्त्री शब्द सीमित रूप से परिभाषित होकर केवल नकारात्मक का ही बोध कराता है, बिना पारस्परिकता के। एक अमूर्त्त बातचीत के क्रम में एक पुरुष का यह कथन सुनना तकलीफ देह होता है कि तुम ऐसा सोचती हो क्योंकि तुम एक स्त्री हो। किंतु मैं जनती हूं कि मेरा एकमात्र बचाव यह जवाब है – मैं ऐसा सोचती हूं क्योंकि यह सच है – इस प्रकार अपने कर्त्ताकारक स्व को बहस से हटा देती है। पर वह ऐसा जवाब नहीं देती कि तुम इसके विपरीत सोचते हो, क्योंकि तुम पुरुष हो। क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि पुरुष होने का तथ्य कोई विशिष्टता नहीं है, पुरुष के लिए पुरुष होना सही है किंतु स्त्री के लिए स्त्री होना गलत है।"[32] इस प्रकार सिमोन द बुआ यह मानती हैं कि समाज, रीति–रिवाज, सिद्धांत, विचार, परंपराएँ – सभी का निर्माता या विधाता पुरुष ही है और पुरुषों ने अपने द्वारा बनाए इस विधान में नारी को हमेशा दोयम दर्जा प्रदान किया है।

बहरहाल, संपूर्ण विकास प्रक्रिया को देखें तो प्रारंभ में स्त्री–लेखन जहाँ केवल परिवार में उसकी महत्ता को स्पष्ट करता था, धीरे–धीरे आज शिक्षा के फलस्वरूप बदल गया है। आज नारी अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही है। यह लड़ाई स्वाभाविक भी है। नहीं तो इस संपूर्ण विश्व में आधी मानव जाति की प्रतिभा का विकास नहीं हो पाएगा। समकालीन महिला कथा लेखिकाओं का साहित्य आज के आम आदमी और स्त्री की व्यथा को चित्रित करता है।

स्त्री की समस्याओं से संबंधित समकालीन हिंदी कहानियों में कई मुद्दे दिख रहे हैं। यदि गौर से देखा जाए तो स्त्री के 'उत्पीड़न' की समस्या केंद्रीय है और उसके भी केंद्र में है 'यौन–उत्पीड़न' की समस्या। स्त्री के यौन–उत्पीड़न की समस्या में विडंबनापूर्ण सत्य यह है कि इसमें उत्पीड़क और उत्पीड़ित का मात्र एक ही वर्गीकरण होता है – पुरुष वर्ग और स्त्री वर्ग। उत्पीड़क पुरुष किसी भी जाति, धर्म, उम्र और समाजार्थिक वर्ग का हो सकता है। उत्पीड़ित स्त्री के लिए भी यही सत्य है। हर तरह के भेदभाव पर आधारित

इस समाज में आश्चर्यजनक रूप से स्त्री की देह के संदर्भ में ऐसी सारी स्थापनाएँ या विभाजन धरे–के–धरे रह जाते हैं।

चित्रा मुद्गल द्वारा संपादित 'देह देहरी' में स्त्री के यौन–उत्पीड़न जैसी केंद्रीय समस्या पर आधारित कहानियाँ हैं, जो स्त्रियों द्वारा ही लिखी गई हैं। कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनके कथा–विन्यास में प्रत्यक्ष यौन–उत्पीड़न की कोई घटना नहीं है, बल्कि उसकी कुछ दुखद स्मृतियाँ हैं जो कहानी के वर्तमान को निर्धारित करती हैं। इन कहानियों में मुक्ति की परिस्थितियों और उसकी संभावनाओं की परख करने की कोशिश की गई है। यद्यपि इन कहानियों की बुनावट ऐसी है कि उन्हें कोई स्पष्ट विभाजन देना संभव नहीं है, फिर भी विश्लेषण की दृष्टि से जिन कहानियों में प्रत्यक्ष यौन–उत्पीड़न अथवा बलात्कार की घटनाएँ हैं, उन पर अलग से विचार किया गया है।

संदर्भ–संकेत

---

1 नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे – साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, पृ.104

2 वही, पृ.113

3 आलोचना : जनवरी–मार्च 2001, पृ.163

4 हंस – जून 2003, पृ.95

5 शृंखला की कड़ियाँ – महादेवी वर्मा, पृ.18

6 औरत होने की सजा – अरविंद जैन, पृ.17

7 दीवारों के पार आकाश – कुंदनिका कापड़िया, पृ.10 (भूमिका से)

8 हिंदू स्त्री का पत्नीत्व – महादेवी वर्मा, पृ.78

9 इंडिया टूडे, साहित्य वार्षिकी, 2002, संपादक और प्रकाशक प्रभु चावला, पृ.147

10 स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक – मृणाल पांडे, पृ.7

11 स्त्री के लिए जगह – राजकिशोर, पृ.85

12 हंस – मार्च, 2004, 'माँ' कविता, प्रमोद कुमार तिवारी, पृ.51

13 सिमोन द बुआ – द सेकंड सेक्स (भूमिका से)

14 हिंदी कथा–साहित्य के विकास में महिलाओं का योग – उर्मिला गुप्ता, पृ.26

15 वही, पृ.55

16 वही

17 वर्तमान साहित्य : अप्रैल–मई 1991, कहानी महाविशेषांक, पृ.322

18 वही, पृ.322

19 हिंदी कथा–साहित्य के विकास में महिलाओं का योग – उर्मिला गुप्ता, पृ.218

20 वही, पृ.219

21 वर्तमान साहित्य : अप्रैल–मई 1991, कहानी महाविशेषांक, पृ.323

22 अतीत के चलचित्र – महादेवी वर्मा, पृ.114

23 स्मृति की रेखाएँ – महादेवी वर्मा, पृ.87

24 वही, पृ.60

25 वही

26 एक प्लेट सैलाब (कहानी संग्रह) – मन्नू भंडारी, पृ.126

27 समकालीन हिंदी कथा लेखिकाएँ – डा. रामकली सर्राफ, पृ.44

28 जिंदगी और गुलाब के फूल (कहानी संग्रह) – उषा प्रियंबदा, पृ.58

29 कितना बड़ा झूठ (कहानी संग्रह) – उषा प्रियंबदा

30 बादलों के घेरे (कहानी संग्रह) – कृष्णा सोबती, पृ.115

31 वही, पृ.115

32 स्त्री उपेक्षिता – प्रभा खेतान (द सेकेंड सेक्स का हिंदी अनुवाद)

दूसरा अध्याय

स्त्री जीवन : दशा और दिशा

2.1 परिवार में स्त्री

2.2 समाज में स्त्री

स्त्री जीवन : दशा और दिशा

प्रसिद्ध फ्रांसीसी चिंतक रूशो ने कहा है कि मनुष्य का जन्म तो स्वतंत्र रूप में होता है पर आजीवन वह अपने–आप को विविध श्रृंखलाओं में बंधा हुआ पाता है। रूशो के इस कथन को अगर स्त्रियों की जीवन–स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखेंगे तो यह शत प्रतिशत सत्य प्रतीत होगा। भारतीय समाज में चाहे प्राचीन काल रहा हो या मध्य काल या फिर आज की 21वीं सदी, स्त्रियों का जीवन विभिन्न प्रकार की रूढ़िवादी ताकतों की पराधीनता के साये में रहने को अभिशप्त है। एक मनुष्य के रूप में उसके जीवन की स्वायत्तता का सवाल आज भी अधर में लटका हुआ है। सदियों से भारतीय सामाजिक–सांस्कृतिक जीवनधारा में ऐसी मानसिकता अबाध रूप से प्रवाहमान रही है जिसके फलस्वरूप समाज की आधी आबादी को जीवन की मुख्यधारा में न तो बराबरी का स्थान मिला और न महत्व। उसे निरंतर हाशिए पर धकेल देने की साजिश कभी प्रत्यक्ष तो कभी प्रच्छन्न रूप से सदियों से चली आ रही है। भारतीय समाज मनु–स्मृति की स्त्री–संबंधी पुरुषवादी नजरिए से आज भी नहीं उबर पाया है। स्त्री बचपन में पिता के, जवानी में पति के और पति के मर जाने पर बुढ़ापे में पुत्रों के वश में रहे – स्वतंत्र कभी न रहे। ऐसी मान्यताएँ समाज में शुरु से ही व्याप्त हैं। न जाने क्यों इस पुरुषवादी समाज को सदा–सदा से यही डर लगता रहा है कि "जिमि स्वतंत्र होंहि बिगरहिं नारी' अर्थात् औरत को स्वतंत्रता मिलने पर वह बिगड़ जाएगी इसलिए उसे स्वतंत्र होने ही न दो, सामाजिक रीतियों–नीतियों के जाल में उलझाए रखो। इसके लिए लोगों ने स्त्रियों के ऊपर कई श्लोकों की भी रचना कर डाली। यथा "यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र 'देवता' अर्थात् जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं। किंतु वास्तविकता जस–की–तस बड़ी ही विडंबनापूर्ण है। जो स्त्री पीड़ा सहते–सहते पथरा गई, उसी को पूजा का विधान। बोलने वाली स्त्रियाँ इस पुरुष–प्रधान समाज के गले कभी नहीं उतरी। स्त्री को 'देवी' पुकार कर समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया है। जितनी व्यवस्थाएँ हैं समाज में, सब पुरुषों ने अपनी सुविधा के लिए बनाई। परिवार संस्था में

जिम्मेदारी स्त्री पर अधिक होती है लेकिन परिवार तथा समाज का मुखिया पुरुष ही रहा है। अतः स्वाभाविक है कि उसके द्वारा निर्मित नियम एवं निषेध उसी की सुविधानुसार रहे हैं। इन सारी व्यवस्थाओं के चक्रव्यूह ने धीरे–धीरे नारी की स्थिति को दयनीय और पराश्रित बना दिया। नारी ने इसे व्यवस्था और जीवन–चक्र मानकर स्वीकार कर लिया। बात इतनी ही सहज और स्वाभाविक रही होती तो शायद आज नारी–अस्मिता की बात करनी बेमानी होती, किंतु जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत उसके लिए वेद–शास्त्रों द्वारा निर्धारित नियम एवं कर्तव्य उसके प्रति पक्षपातपूर्ण रवैये को ही स्पष्ट करते हैं।

आमतौर पर यह माना जाता है कि स्त्रियों का हमारे समाज में सदा ही गौरवपूर्ण स्थान रहा है। माँ के रूप में वह पूज्यनीय रही है। पुरुष के पीछे उसकी ही शक्ति काम करती है। स्त्रीत्व की भारतीय कल्पना सदा ऊँची रही है। उसी के आधार पर भारतीय समाज अभी तक टिका है। यह धारणा वास्तविकता से कोसों दूर है। इसकी पुष्टि वैदिक ऋचाएँ ही करती हैं। वैदिक साहित्य से अभिप्राय ब्राह्मण, आख्यासक, उपनिषद् और सूत्र साहित्य को लेकर है।

वैदिक समाज पितृसत्तात्मक था। अतः उसमें पुत्री की अपेक्षा पुत्र को वरीयता दी जाती थी। पुत्र–प्राप्ति के लिए बहु–विवाह प्रथा भी प्रचलित थी। स्त्री का स्वयं पर कोई अधिकार नहीं था, वह केवल पुरुष की अनुगामिनी थी। युद्धबंदी स्त्रियों से जब राजाओं का अंतःपुर भर जाता था तो उसे दान में दे दिया जाता था। अतः उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। आपस्तंब धर्मसूत्र में लिखा है – 'स्त्री का पहला कर्तव्य है पुत्र संतान को जन्म देना।' निस्संतान पत्नी को विवाह के दस वर्ष बाद त्याग दिया जा सकता है। जो स्त्री कन्या संतान को जन्म देती है उसे बारह वर्ष बाद, जिस स्त्री के बच्चे जीवित नहीं रहते उसे पंद्रह वर्ष बाद और कलहपरायण स्त्री को तुरंत त्यागा जा सकता है। और शतपथ ब्राह्मण में लिखा है जो अपुत्रा पत्नी है वह परित्यक्त है और पुत्र संतान का जन्म न होने पर पति फिर विवाह करेगा। पर वर्तमान युग में विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि संतान के होने या न होने के लिए स्त्री

और पुरुष दोनों जिम्मेदार होते हैं। किंतु पुत्र या पुत्री संतान के लिए मात्र पुरुष ही जिम्मेदार हैं। इस प्रकार पुत्र संतान की कल्पना के पीछे पुरुष की वंशवृद्धि के साथ–साथ पुरुष–तंत्र को बनाए रखने की मंशा थी। साथ ही यह नियम भी बनाए गए कि स्त्री दो विवाह नहीं कर सकती। लेकिन पुरुष कई पत्नियाँ रख सकता है।

कैसी विडंबना है कि जो नियम पुरुष के लिए अधिकार हैं वे स्त्री के दमन और शोषण को बढ़ावा देते हैं। ये स्पष्ट रूप में संसार के दो मनुष्यों के बीच केवल लिंग के आधार पर किए गए भेदभाव को स्थापित करते हैं जिसके फलस्वरूप आधुनिक काल में स्त्री द्वारा अपनी अस्मिता के लिए किया जाने वाला संघर्ष आक्रोश और पीड़ा से उपजे आँसू दोनों की ही अभिव्यक्ति करता रहा है। सदियों से झुटपुट कर जीने वाली नारी को आज जब मुक्ति का मार्ग मिला है तो वह मुक्ति के लिए क्यों नहीं छटपटाएगी। पत्नी व अनुजाया यानि पत्नी चाहे कितनी भी क्षमता व योग्यता क्यों न रखती हो, शास्त्र की रस्सी इसे जबरन खींचकर पीछे रखना चाहती है। यहाँ तक कि विवाह–अनुष्ठान में पति को कहना पड़ता है – आओं हम एक हो जाएँ, हमारी संतान पुत्र हो, जिस संतान द्वारा संपत्ति वृद्धि हो।

ये वैदिक ग्रंथ सोचने पर विवश कर देते हैं कि नारी का अस्तित्व क्या गर्भ धारण करने भर के लिए है? क्या कोख से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है? यदि वह पुत्र संतान को जन्म नहीं देती तो क्या हेय और त्याज्य है? उपर्युक्त सभी उद्धरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि नारी अत्यंत नीच और अधम है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो कुल मिलाकर वह मनुष्य पद के योग्य ही नहीं है। वह समाज द्वारा ठहराई गई निष्कृष्ट और पीड़ित वस्तु है। इन्हीं सब सवालों से रूबरू होती स्त्री की स्थिति को चित्रा मुद्गल द्वारा संपादित कहानी–संग्रह 'देह देहरी' के माध्यम से इस अध्याय में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

2.1 परिवार में स्त्री :

भारतीय समाज में वैदिक काल से लेकर आज तक स्त्रियों की दशा शोचनीय रही है। कभी भी उन्हें किसी भी दृष्टि से योग्य नहीं समझा गया और यह अधिकार भी नहीं दिया गया कि वे पुरुषों के खिलाफ कोई ऐसा निर्णय ले सकें जो कि उनके अहं को ठेस पहुंचा सके। किसी–किसी परिवार में तो वे अपनी जिंदगी का निर्णय तक नहीं ले पाती हैं। पुरुषों के हाथों ही उनके भाग्य का फैसला होता है। लेकिन अक्सर यह देखने में आता है कि जाने–अनजाने परिवार की स्त्रियाँ भी पुरुषों द्वारा बनाए गए इस ताने–बाने में स्त्री के शोषण में योग देती हैं। दुर्गा हाकरे की कहानी 'खूबसूरत लिफाफा बनाम... फूल सरसों की हंसती फसल' में यह दिखाया गया है कि किस तरह से एक स्त्री ही स्त्री की भावनाओं को नहीं समझती और उसका मानसिक रूप से शोषण करती है। लुईसा न चाहते हुए भी सिर्फ सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से शादी करती है जिससे उसे अपनी इज्जत बचाने के लिए एक ढाल मिल सके। लेकिन विडम्बनात्मक स्थिति यह है कि सुहागरात के दिन ही उसके पति की भाभी यह कहती है कि – "नहीं जाएगा अपने कमरे में। प्यारे (लुईसा का पति) मेरा है। बचपन से इसको पाला है मैंने। यह फसल मेरी है, मैं काटूंगी।"[1]

दरअसल इस वाक्य से उस मानसिकता का पूरा चक्र हमारे सामने आता है जिसमें परिवार के भीतर ही लुईसा की जेठानी द्वारा उसके अधिकारों का हनन किया जाता है। साथ ही उसे यह चेतावनी भी दी जाती है कि प्यारे जब अंबिकापुर में अपने घर में हो तो, उस अवधि में लुईसा को अपने होठ सी कर वहाँ रहना होगा। सिम्मी हर्षिता ने 'ठहरी हुई बूंद' में दिखलाया है कि संचिता, जो एक मृत सैनिक की बेटी है, को राजमाता के कहने पर राजकुमार की परिचारिका के रूप में रखा जाता है। एक खास समय के बाद दोनों में प्यार हो जाता है। इस कहानी में सबसे मार्मिक व आश्चर्यजनक बात यह है कि एक स्त्री ही स्त्री की पीड़ा नहीं समझती। राजमाता भी स्त्री है और दासी भी स्त्री है। लेकिन कहानी में हम देखते हैं कि राजमाता ही दासी की दुश्मन बन जाती है और अपने पुत्र की शादी उससे नहीं होने देती है। ऐसा नहीं है कि

राजमाता किसी व्यक्तिगत दुश्मनी के कारण यह करती है, बल्कि इस पुरुष–प्रधान समाज में सदियों से जो परंपरा चली आ रही है कि स्त्री मात्र भोग की वस्तु है, राजमाता इसी पूरे तानेबाने को बनाए रखना चाहती है। उसकी यह मानसिकता कहानी की कुछ पंक्यिों में स्पष्ट रूप से दिखती है – "यह भी तुम्हारा उत्तराधिकार है – किसी भी युवराज या राजा या विशिष्ट पुरूष का पुरुषाधिकार – पर विवाह नहीं। तुम एक राजघराने की गरिमा हो। एक गरिमा का विवाह केवल दूसरी गरिमा से ही हो सकता है – किसी स्त्रीमात्र के शरीर–प्रेम–सौंदर्य–मोह या परिचारण से नहीं। राजमहल की लालिमा की रक्षा हमें अपने या दूसरे के हृदय का रक्त देकर भी करनी होती है।"[2]

उपरोक्त पंक्तियाँ एक खास प्रकार की मानसिकता की परंपरा का पालन करते हुए दोनों के प्रेम को हल्केपन में अनदेखा करती हैं। राजमाता खुद यह कहती है कि संचिता से शादी करने की तुम्हें क्या जरूरत है। मूल मंतव्य कहने का यह है कि प्रेम रहने के बावजूद उन दोनों की शादी नहीं हो पाती है। क्योंकि वह नहीं चाहती और शायद इसलिए मना भी करती है कि संचिता एक दासपुत्री है। वह उसके पुत्र के तथाकथित सत्ता के उत्तराधिकारी होने की राह में, उससे जुड़े जो कर्तव्य हैं उसमें बाधक बनेगी। उपरोक्त दोनों ही कहानियों में ऐसी स्त्री पात्रों को दिखाया गया है जो परिवार में बाहर से आयी स्त्री का शोषण अपने–अपने तरीके से करती हैं। एक स्त्री के द्वारा एक स्त्री का शोषण भले ही मानसिक स्तर पर ही क्यों न हो समाज की उस मानसिकता की ओर संकेत करता है, जहाँ आकर लगता है कि अब कुछ भी बाकी नहीं रह गया है। यह स्त्री जीवन की विडंबना ही है कि उसका अपमान एक स्त्री करती है तथा उसकी स्वतंत्रता, अधिकार प्राप्ति और विकास के मार्ग में बाधा उपस्थित करती है। अक्सर यह माना जाता है कि स्त्रियों की ऐसी स्थिति की जिम्मेदार पराई स्त्री ही होती है। लेकिन चित्रा मुद्गल की 'प्रेत योनि', उर्मिला शिरीष की 'चीख', अरूणा सीतेश की 'मोहरा' और कमला चमोला की 'अंधेरी सुरंग का मुहाना' में माँ की अलग–अलग नकारात्मक भूमिकाओं को दिखाया

गया है। माँ के बारे में लोग यह मानते हैं कि माँ से कुछ भी नहीं छुपता है। वह अपनी संतान के दुःख को तुरंत पकड़ लेती है और उसे उस दुःख से बाहर निकालने का मार्ग प्रशस्त करती है। लेकिन इन कहानियों में हम देखते हैं कि एक माँ ही अपनी लड़की के दुःख या तकलीफ को नहीं समझ पाती है और वह भी कैसे इस बनी बनाई परंपरा का निर्वाह करती है इसे इन कहानियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन चारों कहानियों की स्त्री पात्रों के साथ बलात्कार होता है। दैहिक शोषण के बाद जब वे घर पहुंचती हैं और अपने को संभालने की कोशिश करती हैं तो कैसे परिवार के सदस्य, खासतौर पर घर के मुखिया (पिता) और माँ के व्यवहारों द्वारा उन्हें मानसिक यंत्रणा का शिकार बनना पड़ता है, इसे दिखलाया गया है। 'प्रेत योनि' की नायिका अनिता जब घर पहुंचती है तो माँ द्वारा उसे काफी मनोबल मिलता है। लेकिन उसी माँ को अनीता के घुटनों पर दवाई लगाने के दौरान जब यह पता चलता है कि उसके पयजामे में नाड़ा ही नहीं है और अनीता ने उसे गठियाया हुआ है तो उनका रूख तुरंत ही बदल जाता है। वह अवांछित गर्भधारण की आशंका के निवारण के लिए उसे उबली जड़ी–बूटी का काढ़ा पीने के लिए कहती है। अनीता के मना करने पर कैसे एक माँ उसकी स्थिति को न समझकर हिंसक हो उठती है – "क्रुध शेरनी–सी अम्मा आपा खो बैठी। वे उसकी अनपेक्षित उद्दण्डता के लिए कतई प्रस्तुत नहीं थीं। लपककर झपाटे से उन्होंने पुनः उसके बालों को मुट्ठी में कस लिया और उसके छूटने को कसमसाते चेहरे पर तड़ा–तड़ चांटे जड़ने शुरु कर दिए। उसने हिंस्त्र हो आई अम्मा के चांटे जड़ते हाथ को अपने दोनों हाथों में पकड़ने की कोशिश की, लेकिन अम्मा के सिर पर तो जैसे कोई भूत सवार हो गया था। उनका हाथ पकड़ने की अनधिकार चेष्टा ने आग में घी का काम किया। अम्मा ने उसे बालों समेत पलंग पर से फर्श पर खींच लिया और शक्ति–भर उस पर लातें बरसाने लगीं।"[3] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या मानसिक उत्पीड़न यौन–उत्पीड़न से कम संगीन जुर्म है ? जो किसी भी लड़की को अपने ही घर में इतनी नंगी गवाहियों से गुजरने को विवश कर दे कि वह हारकर आत्महत्या में ही मुक्ति का रास्ता तलाश्ने को बाध्य हो उठे? हमारे समाज में यह देखा गया है कि जब भी किसी स्त्री–देह के साथ इस

पुरुष–प्रधान समाज ने खिलवाड़ किया है तो दोषी हमेशा स्त्री को ही माना गया है। आज भी 21वीं सदी में स्त्री की वही स्थिति है जो कि वैदिक काल में थी। वह चाहे परिवार हो या समाज सभी जगह उसका शोषण किया गया। चाहे यह मानसिक स्तर पर ही क्यों न हो। इसी प्रकार उर्मिला शिरीष की 'चीख' और कमला चमोला की 'अंधेरी सुरंग का मुहाना' कहानियों में परिवार द्वारा यंत्रणा और असहयोग को दिखाया गया है। इसमें 'अंधेरी सुरंग का मुहाना' की नायिका को अपने परिवार के सदस्यों से कोई सहयोग नहीं मिलता है। वहीं 'चीख' की नायिका को अपने माता–पिता से तो सहयोग नहीं मिलता है लेकिन इस मानसिक यंत्रणा के दौर से निकलने में उसकी बड़ी बहन का योगदान सराहनीय है। वह कहती है – "जिंदगी तो तुम्हारी अपनी है। किसी पर आश्रित मत रहना... पढ़ो, नौकरी करो। बाहर चली जाओ – सब ठीक हो जाएगा... मैं... तुम्हारा साथ दूंगी हमेशा। कभी अलग नहीं होऊंगी...।"[4]

इस तरह इन कहानियों में स्त्री अनायास ही पुरुषवादी षड्यंत्रकारी मानसिकता की शिकार स्त्री के विरुद्ध खड़ी दिखती है। ऐसा नहीं कि उत्पीड़ित स्त्री के विरुद्ध खड़ी दिखती माँ–रूपी स्त्री पूर्व–जन्म का कोई प्रतिशोध ले रही हो। यह तो इस पुरुषवादी समाज में उसकी अभिशप्त स्थिति है जो उसके मन में ऐसे जड़ीभूत संस्कारों को जमा दे रहा है। आवश्यकता इसी विडंबना को समझने की है और पुरुषवादी षड्यंत्रकारी मानसिकता द्वारा बनाई जाने वाली निर्मितियों को समझने की है।

दीपा अग्रवाल की 'ताश का घर', गीतांजलिश्री की 'अनुगूंज' और मृदुला गर्ग की 'तुक' जैसी कहानियों में पति ही परिवार के अंदर पत्नी का शोषण करता है। यौन–उत्पीड़न की परिस्थितियाँ किस प्रकार परिवार के भीतर बल्कि स्वयं पति द्वारा बनाई जाती है इसे सुधा अरोड़ा की कहानी 'तीसरी बेटी के नाम – ये ठंडे, सूखे, बेजान शब्द' में देखा जा सकता है। सुनयना एक स्वच्छंद विचारों की लड़की है। कालेज के दिनों में ही उसे एक लड़का पसंद आता है लेकिन एक मजहब का न होने के कारण घर में कोई भी इस शादी के पक्ष में खड़ा नहीं होता है। यह भी एक सामाजिक बुराई है जो उसके भावी जीवन के

सुखद क्षणों की संभावनाओं को तार–तार कर देता है। समाज के नियमों के अनुसार, उसकी बनी–बनाई व्यवस्था के अनुरूपएक अदद पति को उसके ऊपर थोपा जाता है अर्थात् सामाजिक मर्यादा से स्वीकृत उसकी शादी होती है। और परिणाम यह होता है कि पति द्वारा ही उसकी हत्या कर दी जाती है। जाहिर है हमारे समाज में जब इस तरह की एक व्यवस्था के नियमों के तहत शादी होगी तो उसके कुछ नियम भी होंगे – जैसे ये न करो, वहाँ मत जाओ, ऐसे मत बोलो, ये पहनो, वो मत पहनो आदि–आदि। इस तरह की सर्वसम्मति से हुई शादियों में पति अपनी पत्नी से एक आदर्श पत्नी होने की आशा करता है जो उसके बनाए गए मानदण्डों पर खरी उतरे। अगर वह ऐसा नहीं करती है तो उसके ऊपर लांछन लगाकर या तो पुरुष वर्ग छोड़ देता है या उसकी हत्या कर देता है।

'अनुगूंज' की मुनिया और 'तुक' की मीरा – इन दोनों ही स्त्री पात्रों के लिए पति का होना उनके लिए एक तरह का व्यवसाय है, जिसके माध्यम से उन्हें पैसा और व्यस्तता दोनों मिलते हैं। जाहिर है कि "खसम इज्जत लेगा तो क्या रोटी भी न देगा" वाला मुहावरा दो स्तरों पर स्त्री के लिए विवाह संस्था की अनिवार्यता स्थापित करता है। एक तो यह कि 'इज्जत' एक से ज्यादा हाथों में न 'लुटे' और दूसरी 'रोटी' भी मिलती रहे। इसलिए ज्यादातर स्त्रियों की नजर में विवाह किसी व्यवसाय या रोजगार की तरह है जिससे जिंदगी की मूल जरूरतें रोटी, कपड़ा, मकान पूरी हो सकती हैं। विवाह को रोजगार या पेशा मानकर, उससे दैहिक व मानसिक समझौता करने में देह और व्यक्तित्व के साथ रोज–रोज जो बलात्कार होता है, जो हीन भावना युक्त जीवन जीना पड़ता है इससे भी स्त्री को ही गुजरना पड़ता है। 'अनुगूंज' कहानी की मुनिया की नजर में पति की इच्छा से परे उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं है। पति के निर्देशानुसार ही वह काम करती है। दोनों ही कहानियों की स्त्री पात्रों को जब यह बोध होता है कि पति से परे भी उनका अपना अस्तित्व है तो उनके अंदर विद्रोह के बीज पनपने लगते हैं। दोनों ही कहानियों के पुरुष पात्र विचारों में जितने आधुनिक हैं व्यावहारिकता में उतने ही संकीर्ण। मीरा और मुनिया भी

एक अजीब अंतर्द्वन्द्व से गुजरती हैं। वे यह तय नहीं कर पाती हैं कि क्या वे सही अर्थों में अपने पति को प्यार करती हैं।

इस प्रकार हम इन कहानियों में देखते हैं कि स्त्री का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। कहीं–न–कहीं उसे चाहे वह पति हो या घर की कोई स्त्री पात्र हो अपने–अपने तरीके से उसका शोषण करते रहते हैं। दीपा अग्रवाल की 'ताश का घर' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है जिसमें नायिका खुद ही ऐसी स्थिति पैदा करती है कि हर रोज उसे पति के शोषण का शिकार बनाना पड़ता है। वह मानसिक रूप से असंतुलित है लेकिन इस तरह की परिस्थिति के पीछे भी पिता द्वारा उसकी दैहिक शोषण की पृष्ठभूमि है। 'प्रेत योनि' की नायिका अनीता दो बार मौत के मुंह से निकलकर, पहली बार ट्रेन दुर्घटना से और दूसरी बार आटोरिक्शे वाले के चंगुल से बचकर जब घर पहुंचती है तो घर वाले, जो ट्रेन दुर्घटना की खबर सुनकर दुःखी थे, साथ में आई पुलिस को देखकर सकते में आ जाते हैं। लेकिन सारी स्थिति जानने के बाद और महिला पुलिस द्वारा उसकी बहादुरी के बारे में सुनने के बाद अनीता के पिता कहते हैं – "भूल जा बेटी, जो कुछ तुझ पर बीती, सोच ले दुःस्वप्न था। हमारे लिए यही बहुत है कि तू जीवित है, हमारी आँखों के सामने है। तू एक नहीं, दो–दो यमराजों को पछाड़कर आ रही है।"[5]

लेकिन अखबार में अनीता की बहादुरी के बारे में लिखा देखकर उसके परिवार वालों का रूख अचानक अनीता के प्रति बदल जाता है। ऐसा नहीं है कि ये लोग अर्थात परिवार के सदस्य माता–पिता, भाई–बहन, दादा आदि पढ़े–लिखे नहीं हैं। घर की आर्थिक स्थिति भी ठीक–ठाक है। ये लोग समझदार हैं, कूढ़मगज और दकियानूस नहीं हैं, क्योंकि अगर ऐसा होता तो वे अनीता को दिल्ली न भेजते। लेकिन जिस खबर को सुनकर अनीता के पिता और परिवार वाले उसे मानसिक संबल प्रदान करते हैं वही खबर जब अखबार में छप जाती है तो पूरा परिवार एक खास प्रकार के मनोवैज्ञानिक दबाव में आ जाता है। जिसके आने पर लोग खुश थे उसी को समाज की नजरों से छुपाने की कोशिश करने लगते हैं ताकि बिरादरी में लोगों को यह पता न चले कि

अनीता, जिसके साथ इस तरह का हादसा हुआ, उन्हीं की बेटी है। इसी तरह 'चीख', 'अंधेरी सुरंग का मुहाना' और 'मोहरा' कहानियों में भी जब उत्पीड़ित स्त्री पात्र घर पहुंचती है तो घरवालों का रवैया बिल्कुल ही बदल जाता है। वे उसके साथ ऐसा व्यवहार करने लगते हैं जैसे वह ही इस हादसे की जिम्मेदार है। 'चीख' की स्त्री पात्र जब घर पहुंचती है तो उसके पिता के लिए यह एक आत्मग्लानि का सवाल होता है। वह कहते हैं – "क्या होगा उसका। कहाँ लेकर जाएँगे।"[6]

प्रायः हमारे समाज में इस तरह की घटना के बाद इसे इज्जत, शर्म और नैतिकता से जोड़ दिया जाता है। जिस सहारे के बल पर वह अपने साथ हुई दुर्घटना का सामना कर सकती है उसी परिवार में उसे लोगों से नजरें चुरानी पड़ती हैं। घर के अन्य सदस्य भी उससे परायों जैसा व्यवहार करने लगते हैं। 'अंधेरी सुरंग का मुहाना' में उत्पीड़ित स्त्री पात्र का पूरा परिवार उसके खिलाफ खड़ा हो जाता है। कोई भी यह नहीं चाहता कि बात अदालत तक पहुंचे। सभी अपने–अपने तरीके से उसको समझाते हैं और उसे ही इस हादसे का जिम्मेदार मानते हुए अपना आक्रोश भी व्यक्त करते हैं। भाई सख्ती से होंठ भींच बेदर्दी से सामान के बंडलों को कोने में ढेर कर उसके प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करता है। उसकी इस उठा–पठक से साफ जाहिर था कि उसका बस चलता तो ये सारा वजन एक–एक करके बहन के सिर पर ही दे मारता जो उसके अनुसार इस सारी आपदा की जड़ है।

इस पुरुष–प्रधान समाज में पुरुष की इज्जत किसी एक ऐसे यौन अंग से नहीं जुड़ी हुई होती है जैसा कि स्त्री के मामले में है। यदि किसी भी व्यक्ति के साथ दुर्घटना होती है और उसका पैर व हाथ टूट जाता है तो लोग उसे एक दुर्घटना के रूप में लेते हैं। लेकिन यदि किसी स्त्री के साथ बलात्कार होता है तो उसे नैतिकता से जोड़ दिया जाता है। और इसके लिए उसे ही समाज और परिवार द्वारा दोषी ठहराया जाता है। लेकिन 'काली लड़की का करतब' और 'जांच अभी जारी है' में दोनों स्त्री पात्रों को अपने परिवार से पूरा सहयोग मिलता है। 'काली लड़की का करतब' में बलात्कार होने के बाद भी

पिता उसके अंदर की जिजीविषा को मरने नहीं देता। वह उसके लिए जिंदगी को नए तरीके से जीने का मार्ग प्रशस्त करता है। "साया–झबला फेंक, मुनिया को छोरे का साज पहना दिया। बिन मुंडवाए ही बाल, बबुआकट, कतरवा दिए।"[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भयावह परिस्थिति में भी पिता द्वारा उसे न सिर्फ संबल ही मिलता है बल्कि उसके अंदर जीने की इच्छा भी बनी रहती है। 'जांच अभी जारी है' में अपर्णा के ऊपर एल.टी.सी. के झूठे बिल पेश करने के आरोप में बिना किसी ठोस सबूत के, मात्र अपनी कुंठा को संतुष्ट करने के लिए, उसके साथ काम कर रहे कर्मचारियों द्वारा केस कर दिया है। इस सारी मानसिक उत्पीड़न की प्रक्रिया में पिता द्वारा उसे मानसिक संबल प्रदान किया जाता है। वे कहते हैं – "तू क्यों चिंता करती है, मैं चलूंगा तेरे साथ क्षेत्रीय दफ्तर, जाते वक्त पूरे रास्ते पिताजी उसे समझाते रहे, "तू बिल्कुल न डर। सत्य में आज भी बड़ी शक्ति है। मेरी इतनी उम्र हो गयी, मैंने आज तक झूठ का सहारा नहीं लिया और मैं कभी घाटे में नहीं रहा।"[8] यह बात दीगर है कि सत्य में पिता की आस्था कहानी में आगे आधार नहीं पाती और अपर्णा का घाटा पुरुष चक्रव्यूह की प्रताड़ना में दिखता है। लेकिन महत्वपूर्ण बात है पिता का संबल।

इस तरह हम देखते हैं कि परिवार के अंदर भी स्त्री और पुरुष अलग–अलग संबंधों की शक्ल में स्त्री के विरुद्ध असहयोगी या पीड़क की भूमिका में दिखते हैं। ऐसी परिस्थिति में उत्पीड़ित स्त्री की वेदना दोगुनी हो जाती है। जिन कहानियों में परिवार के सदस्य उसकी पीड़ा के आँसू पोंछते या संघर्ष में कदम–दर–कदम साथ चलते दिखाई देते हैं, उनमें उत्पीड़ित की जिजीविषा और संघर्ष का माद्दा, सकारात्मक रूप में, दिखता है। दरअसल दिशा भी यही होनी चाहिए।

स्पष्ट है कि परंपरागत पारिवारिक उत्तरादियत्वों का जो बोझ स्त्रियों पर लाद दिया गया है और जिन्हें स्त्रियाँ सदियों से उठाती आई है, उसमें घर की सीमा के अंदर ही काम करने वाली की छवि स्त्रियों की बन गई है और समाज

की मानसिकता भी कुछ ऐसी बन गई है कि औरतों को उसी रूप में देखना पसंद किया जाता है। अगर कोई औरत उस बनी–बनाई छवि को तोड़ने का प्रयत्न करती है तो ऐसा महसूस किया जाता है कि कुछ असामान्य–सा घटित हो रहा है। परंपरागत गुलामी की तस्वीर को तोड़ना सचमुच स्त्री के मामले में असामान्य और अराजक है। 21वीं सदी के भारतीय समाज में स्त्री–संबंधी इस सोच में कोई विशेष अंतर नहीं आया है। आज भी एक स्त्री से घर–परिवार को क्या अपेक्षाएँ होती हैं? यही कि वह माँ बने, सर्वकार्य निपुण एक दक्ष बहू बने, पति और परिवार के सेवा–कार्य में रत सुशील आज्ञाकारी पत्नी बने, बिना चूँ–चापड़ किए परिवार की तथाकथित मर्यादाओं की सीमा में रहने वाली बहन–बेटी बने। इसका कन्यादान करते हुए उसे मात्र बच्चे पैदा करने वाली एक इकाई, एक ऐसे 'टार्गेट' के रूप में स्थापित किया जा रहा है, जिसे 'टैकल' किए बिना जनसंख्या के बोझ तले तीसरी दुनिया रसातल में जाएगी। मान्यता यह है कि "कोख को येन–केन नियंत्रित करके ही आबादी पर तुरंत अंकुश लगाया जा सकता है। लिहाजा पहले कोख को औरत का निजी धन बनाकर प्रचारित किया जाए और फिर औरत को फुसलाकर कोख को पश्चिम में अस्वीकृत गर्भाधान निरोधकों के ताबड़तोड़ प्रयोग से बंध्या बना लिया जाए।"[9]

स्त्री की प्रजनन शक्ति ने जिसे मातृ–शक्ति कहकर महिमामंडित किया गया है, कहीं–ना–कहीं स्त्री को व्यक्ति से देह और वस्तु में बदलने की प्रक्रिया में अहम भूमिका निभाई है। स्त्री–पुरुष का दैहिक संसर्ग जिससे सृष्टि के निर्माण का महान सांस्कृतिक कर्म होता है, उस महान सांस्कृतिक कर्म में लिप्त स्त्री पुरुष–वासना की क्रीड़ास्थली बन जाती है। स्त्री को देवी, माँ, सहचरी और प्राण के रूप में देखने वाले पंत भी यह महसूसते हैं कि 'योनि मात्र रह गयी मानवी।'

कदम–कदम पर औरत के शरीर में चुभती पुरुष निगाहें चीख–चीख कर कहती हैं कि आदमी की निगाह में औरत एक भोग्या है। राजेंद्र यादव टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि दूसरों के हाथों खोई संपत्ति वापस मिलने पर पुरुष

गर्वित होता है पर दूसरों के यहाँ से लौटी स्त्री कभी भी स्वीकार्य नहीं होती। इतने पर भी हर पुरुष स्त्री को अपना शिकार बनाने की ताक में रहता है।

2.2 समाज में स्त्री :

स्त्रियों के वजूद को लेकर समाज कभी भी संवेदनशील नहीं रहा है। उनके लिए पुरुष–प्रधान समाज में दिशा–निर्देश निर्धारित किया गया है। कुछ कर्तव्य, कुछ वर्जनाएँ तो निर्धारित की हैं पर कोई अधिकार नहीं दिया है। समाज की गति को निरंतरता प्रदान करने वाली सहयोगी एवं अनिवार्य पहिए के रूप में इसके जो स्वाभाविक अधिकार परिवार, समाज, संस्कृति, राजनीति और सबसे बढ़कर संपत्ति में होने चाहिए, उनसे तो स्त्रियों को वंचित किया जाता रहा; भावनाओं–संवेदनाओं– इच्छाओं–अपेक्षाओं को कौन पूछे! प्रस्तुत संकलन की कहानियाँ बड़े संवेदनशील ढंग से समाज में स्त्री की वस्तुपरक अवस्थिति को उद्‌घाटित करती हैं और बताती हैं कि किस तरह स्त्री के परिचय की देहरी देह से शुरु होती है, इच्छा–भावना, संवेदना–कर्तव्य–अधिकार के व्यापक एवं संपूर्ण अस्मितापरक फलक से नहीं। यह मात्र पुरुषों के लिए आरक्षित एवं संरक्षित है।

स्त्री–जीवन के उत्पीड़न या उसकी दुर्दशा के कई पहलू हैं। स्त्री की मुक्ति का एक सिरा यदि समाज से जुड़ा है तो दूसरा सिरा स्वयं उससे जुड़ा है। कहने का अर्थ यह है कि यदि सामाजिक बंधनों और विरोधी स्थापनाओं, व्यवस्थाओं व नियमनों से मुक्ति पानी है तो स्त्री को स्वयं के डर, भाग्यवादिता, हीनताबोध आदि से भी मुक्ति पानी होगी। इसी से जुड़ा है आर्थिक आजादी का मुद्‌दा। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता स्त्री को हीनताबोध से मुक्ति दिलाती है। जिंदगी को अपने तौर पर उमंगों, आकांक्षाओं के साथ जीने का संबल प्रदान करती है। लेकिन इसके बावजूद पुरुषवादी समाज की व्यूह–रचना ऐसी है कि आर्थिक रूप से आजाद, आत्मनिर्भर स्त्री भी पुरुषवर्गीय समाज की शिकार बनने को मजबूर होती है। क्योंकि उत्पीड़न के महाजाल की कुछ डोर अन्य पहलुओं से जुड़ी होती है जिन्हें खींचते ही स्त्री पुनः बेबस हो जाती है। ममता कालिया की कहानी 'जांच अभी जारी है' में स्त्री की इसी स्थिति को

दिखलाया गया है। कहानी की नायिका अर्पणा बैंक में नियुक्त होकर अपना जीवन सफल मानने लगती है। पूरी मेहनत व निष्ठा से दस से पांच की ड्यूटी बजाने के बाद वह संतुष्टि महसूस करती है। ये वे दिन थे जब अर्पणा आशा और विश्वास से भरी थी। उसे जगह–जगह लिखे नारे भी अच्छे और अर्थपूर्ण लगने लगे थे – "परिश्रम ही देश को महान बनाता है। अनुशासन आज की जरूरत है। कड़ी मेहनत, पक्का इरादा, दूरदृष्टि।" लेकिन कहानी यथार्थ में तब शुरु होती है जब बैंक का हर छोटा–बड़ा अधिकारी अर्पणा से उसकी शाम की व्यस्तता की जानकारी लेना चाहता है। उसके पीछे के मंसूबे को मिसेज श्रीवास्तव स्पष्ट करती है – "संभलकर रहना, अर्पणा, ये शादीशुदा मर्द बड़े खतरनाक होते हैं। पहले आंतुर बनेंगे, फिर कातर, और फिर शातिर, एकदम, पन्नालाल हैं सबके सब।"[10]

एक शाम अर्पणा को सिन्हा के छल–भरे प्रस्ताव में फंसना ही पड़ता है और जब वह शाम पांच बजे के बाद के आयोजन की हकीकत देखती है तो बौखलाकर बीच में ही पार्टी छोड़कर चली जाती है। यहीं से उसके दर्द की दास्तान भी शुरु होती है। उससे खुन्नस निकालने की राह ताकते पुरुष अधिकारी उसे एल.टी.सी के झूठे बिल पेश कर बैंक के साथ धोखाधड़ी के झूठे मामले में फंसा देते हैं और फिर जांच की अंतहीन यंत्रणादायक प्रक्रिया प्रारंभ होती है। जिसमें कदम–कदम पर उसे पुरुष अधिकारियों के अहं और दूषित निगाहों से टकराना पड़ता है। ममता कालिया बताती हैं – 'फाइल मोटी होती जा रही थी, अर्पणा दुबली'। यही नहीं, अर्पणा जब एक और महिला कर्मचारी – फरीदा जमाल – से उसके साथ खन्ना साहब द्वारा किए गए दुर्व्यवहार की पुष्टि जांच अधिकारी के सामने करने के लिए कहती है तो वह बिदक जाती है। दरअसल वह वाक्ये को 'पब्लिकली' नहीं कहना चाहती थी। अर्पणा हर स्तर पर अकेली होती जाती है। उसकी स्थिति को हम इन पंक्तियों के माध्यम से समझ सकते हैं –

"जैसे ही लड़की
कुछ नया करना चाहती है

अकेली पड़ जाती है
वरना लोग साथ देते ही हैं
एक देवी का
एक सती का
एक रंडी का।"[11]

वह महसूस करने लगती है कि जांच का परिणाम चाहे जो हो, असली सजा तो वह पा चुकी है। बहरहाल... जांच तब भी बदस्तूर जारी ही थी। एक कामकाजी महिला इस पुरुषवादी समाज में प्रायः हर जगह, हर स्तर पर उत्पीड़न का शिकार बनने को मजबूर है। ममता कालिया जी का कहना सही है कि "शिक्षित, कामकाजी स्त्री का परिस्थितिजन्य संकट में पड़ जाना कोई अनहोनी घटना नहीं है। फिर भी हैरानी की बात यह है कि उसे सुनवाई की वह न्यूनतम स्पेस भी नहीं दी जाती जो अन्य लोगों को सहज मिल जाती है। आप लाख अपने को सिर्फ कर्मचारी मानकर काम करें, बाहरी दुनिया आपको यह जतला देती है कि उसकी निगाहों में पहले आप औरत हैं, बाद में कर्मचारी।"[12]

हालांकि आज कार्यस्थलों पर स्त्रियों के साथ व्यवहार की आचार–संहिता बनाई जा चुकी है, फिर भी सदियों से जड़ीभूत संकीर्ण पुरुष मानसिकता कब तक दरकेगी, यह अब भी एक सवाल बना हुआ है। दूसरे, स्त्रियाँ अपने साथ इस तरह के दुर्व्यवहार या भावनाओं के उत्पीड़न को 'पब्लिक' करने से अब भी हिचक रही हैं, यह फरीदा जमाल की बौखलाहट से स्पष्ट हो जाता है। यह बौखलाहट निश्चित रूप से सामाजिक ताने–बाने की देन है, लेकिन फरीदा जैसी स्त्रियों को अब अर्पणा जैसी स्त्री का साथ देने का माद्दा या जज्बा जुटाना ही होगा। कितनी आश्चर्यजनक स्थिति है कि अर्पणा के विरुद्ध जो पुरुष अधिकारी हैं, उन्होंने घोषित रूप से कोई गठबंधन नहीं किया है। लेकिन खन्ना हो, सक्सेना हो, क्लर्क हो या फिर प्रीतम सिंह – हर पुरुष अधिकारी का व्यवहार अर्पणा के प्रति एक समान शत्रु भाव लिए है। निश्चय ही यह वह

संकीर्ण अहंवादी पुरुष मानसिकता है, जिस पर चोट कर उसे दरकाने की जरूरत है।

इसी प्रकार 'दुर्गा' की कहानी 'खूबसूरत लिफाफा बनाम.... फूल सरसों की हंसती फसल' में ए.एन.एम. की ट्रेनिंग के दौरान किस तरह से ट्रेनिंग करने आई लड़कियाँ वहाँ मौजूद शोषण तंत्र का शिकार होती हैं इसे दिखलाया गया है। सबसे विडंबनात्मक स्थिति यह है कि एक स्त्री भी पुरुषों द्वारा बनाए गए इस शोषणतंत्र में बराबर की साझेदार है। इस प्रकार स्त्री ही स्त्री की अस्मिता की भक्षक बनी हुई है। कहानी में रूही और लुईसा दोनों ही इस षड्यंत्र का शिकार होती हैं, लेकिन इन दोनों पात्रों में विचार के धरातल पर काफी असमानता है। एक तरफ जहाँ रूही अपने ऊपर किए गए अत्याचार पर कोई विरोध दर्ज न करके वहाँ से ट्रेनिंग छोड़कर चली जाती है। वहीं लुईसा के साथ जब यह घटना दुहराई जाती है तो वह चुप नहीं बैठती है, बल्कि इस शोषण–तंत्र में शरीक लोगों को अदालत तक ले जाती है। पुलिस भी जो समाज की सुरक्षा और अन्यायी को सजा दिलाने के लिए होती है इस शोषण–तंत्र में शामिल होकर लुईसा को मानसिक रूप से असंतुलित घोषित कर देती है। कहानी के अंत में अदालत में लुईसा की ही जीत होती है। इस तरह के कार्यस्थलों पर कार्य करने के दौरान लुईसा को मानसिक उत्पीड़न के दौर से जो गुजरना पड़ता है उसके प्रमुख कारणों में डा. फिलो द्वारा लुईसा को पाने के लिए कहे गए कथन भी हैं। वह कहता है – "हम तुम एक ही ईश्वर की संतान हैं। मैं प्रेम का बहुत भूखा हूं। लुईसा मेरी जान। तुम से भीख माँग रहा हूं, दोगी नहीं?... जीवन भर कुमारी रहकर कौन सी जिंदगी प्राप्त करनी है तुम्हें? तुम मुझे केवल एक मौका दो, कसम खाकर कहता हूं अपनी पालतू बनाकर न छोड़ दूं तुम्हें तो कहना।"[13]

इस प्रकार के कथन से डा. फिलो सिंह का जो चरित्र सामने आता है वह नाटक के उस पात्र की तरह हमारे सामने उपस्थित होता है जो स्त्री की देह को पाने के लिए सारे हथकंडे अपनाता है साथ ही हमारे समाज की परंपरागत मर्दवादी मानसिकता को द्योतित करता है जहाँ स्त्री मात्र भोग की

वस्तु समझी जाती है, उससे परे उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिए आज जरूरत है कि स्त्री को अपने 'स्व' की रक्षा के लिए इस तरह की मानसिकता वाले परिवेश से लड़ना होगा। अर्चना वर्मा की कहानी 'जोकर' स्त्रियों को दैहिक शोषण के भय एवं आशंका से लड़ने का प्रस्ताव करती है। इसमें कई मानसिकताओं का पोस्टमार्टम किया गया है – जैसे स्त्री के डर की मानसिकता, बलात्कारी की मानसिकता और पुरुषवर्ग की मानसिकता। मारण महोत्सव के दौरान जब मिसेज प्रतिमाकांत से तुलसा दाय उसके दुश्मन का नाम पूछती है तो वह किसी का नाम नहीं ले पाती। नाम आता भी कहाँ से? स्त्री के यौन–उत्पीड़न के डर का कारक तो पूरा–का–पूरा पुरुष वर्ग ही ठहर जाता है। कौन जाने, कहाँ, किस रूप में उत्पीड़क मिल जाए? लेकिन विडंबना यह है कि इस डर को साथ लिए हुए भी स्त्री अंततः पुरुषों के ही समाज में शरण ढूंढती है – उसी डर के कारण। लेखिका की टिप्पणी है कि –

"यहाँ यह समझ पाने की कोई गुंजाइश नहीं है कि क्यों गुस्सा उतर जाने, दिल दिमाग ठंडा हो जाने के बाद स्वाभिमान बेच खायी और अपमान घोल–घालकर पी गई ये औरतें और भी दबी झुकी, उन्हीं शर्तों की गुलाम और मोहताज, वापस कहीं उसी नरक में लौट जाना चाहती हैं, घर नाम के उसी मृगजल में जहाँ वे जानती हैं कि सिर्फ रेगिस्तान है। इनके पास हर बात का वही एक जवाब है कि क्योंकि यह पुरुषों का संसार है, पुरुषों की व्यवस्था इसलिए। थोड़ी तरस मिली हिकारत के साथ इन औरतों को देखती हुए ये हर लौट जाने वाली पर पराजय की हताशा से भर जाती हैं।"[14] इस डर में सुने हुए अनुभवों से उपजी आशंका का डर भी होता है। घर बाहर हर जगह अगर ऐसे सामाजिक दबाव और घिराव मौजूद हों जो स्त्री को केवल देह होने के अहसास में और देह को केवल शोषणीय होने की यातना में विघटित करते हों तो दैहिक शुचिता की अनिवार्यता का आग्रह और स्त्री के अपने दुर्बल कंधों पर उसकी रक्षा का भार जीवन के सहज, स्वस्थ, भोले विकास और सौंदर्य को असंभव और भय और आशंका को जीवन का पर्याय बनाता है।

यह सुनना कुछ अटपटा लगता है, पर यह हकीकत है कि स्त्री के अवचेतन में उत्पीड़न, भले ही भद्दी इशारेबाजी क्यों न हो, की आशंका जमी रहती है। यह कैसी विडंबना है कि कंकू अपने बाप की मौत को अपने लिए एक राहत के रूप में देखती है। सुने और देखे अनुभवों से उपजे डर से यह राहत, पुरुष वर्ग को कटघरे में खड़ा करता है। लेकिन बेटी के डर के खत्म होने की वजह जानकर एक माँ के अंदर डर पैदा होने लगता है – "क्या कभी जानेगी यह लड़की प्यार का अर्थ? देह और मन का एकाग्र संगीत सुन पाएगी कभी? पराए अनुभवों की हदें कहीं उसे अनजाने अनचाहे महज एक स्त्री देह बनाकर तो नहीं छोड़ देगी।"[15]

यह डर संवेदना के भोथरे हो जाने का डर होता है। इसी तरह यह भोगे अनुभवों का ही डर है जो चपला को एक सहकर्मी द्वारा सहज रूप में 'आई लव यू' कहने पर भड़का देता है, क्योंकि सारा पुरुष वर्ग ही उसके लिए धोखेबाज हो चुका है। कहानी का जोकर इस डर का ही प्रतीक है। अर्चना वर्मा का मंतव्य है कि "स्त्री अपने भय पर काबू कैसे पाय? भय का पुतला बनकर उसे दंडित करके? रोने की बात पर रोने की बजाय हंसके? लापरवाह हो के? कोई एक जवाब जाहिर है कि, दिया नहीं जा सकता, क्योंकि हर एक को अपने लिए खुद खोजना है।"[16] ऐसे में किशोरी कंकु का कथन आश्वासन की तरह है – "तो क्या कहीं से कोई और धरती आने वाली है औरतों की दुनिया के लिए? यह जो मरदों की दुनिया है न, यही औरतों की दुनिया भी है सुगंधा मासी। यहाँ जैसे चीते हैं, मच्छर हैं, खटमल हैं वैसे ही मर्द भी हैं। क्या जरूरी है कि शेर, भेड़िया, भालू ही कहो? उपमान ही तो है। बदल दो।"[17]

उपरोक्त कहानियों के सारे स्त्री पात्र आर्थिक रूप से सक्षम हैं लेकिन हरेक का वर्तमान किसी–न–किसी तरह पुरुषों द्वारा उत्पीड़न का दंश झेल रहा है। स्त्री के उत्पीड़न की तह में जाने पर उत्पीड़न के विभिन्न सामाजिक और व्यवस्थागत कारकों की भी पहचान होती है। इस क्रम में पुलिस की भूमिका देखी जा सकती है। विभिन्न कहानियों में पुलिस की भूमिका से यह स्पष्ट होता है कि समाज के रक्षक का वैध दायित्व निभाने वाले ही किस तरह से स्त्री के

शोषण–उत्पीड़न में सहयोग करते हैं। 'खूबसूरत लिफाफा बनाम... फूल सरसों की हंसती फसल" कहानी में पुलिस चंद कागज के टुकड़ों (रिश्वत) की खातिर उत्पीड़न की शिकार लड़की को मानसिक रूप से असंतुलित घोषित करवा देती है। पुलिस का एक दूसरा रूप 'परतें' (दिलावर) में नजर आता है। मुहल्ले की जांच के क्रम में उसकी वासनामय निगाहें घर में काम करने वाली किशोरी तिन्नी पर पड़ती हैं और उसकी रगें बार–बार उसके शरीर को मसलने के लिए तप्त होती रहती हैं।

'परतें' के दिलावर की मनुष्यता की परतें उघड़ जाने से तिन्नी तो बच जाती है, लेकिन इससे पुलिस का यथार्थ उद्‌घाटित होने से बच नहीं पाता। पुलिस की भूमिका का एक घिनौना रूप 'कलम की नोक से/पर बलात्कार' कहानी में दिखता है। जहाँ पुलिस एक बेटे को माँ का बलात्कार करने के लिए विवश करती है। उत्पीड़न की शिकार स्त्री जब संघर्ष का रास्ता अपनाती भी है तो पुलिस बाधक की भूमिका में नजर आती है। 'चीख' और 'अंधेरी सुरंग का मुहाना' कहानी में पुलिस स्त्री को अदालत की प्रक्रिया का भय दिखाकर केस दर्ज करने से हतोत्साहित करती है। इस तरह स्त्री के उत्पीड़न में और उत्पीड़न के विरुद्ध उसके संघर्ष में व्यवस्था के एक अंग – पुलिस–की भूमिका स्त्री के विरुद्ध दिखती है।

दूसरी ओर, अदालत की प्रक्रिया का जो हवाला पुलिस देती है, वह भी असंगत नहीं है। अदालत में उत्पीड़न की शिकार स्त्रियों से बचाव पक्ष के वकील जिस तरह के प्रश्न करते हैं, वह टूटी हुई स्त्री को और बिखरा देता है। यह भी एक कारण है कि स्त्री–उत्पीड़न की अधिकांश घटनाएँ सार्वजनिक शर्म या अपमान की आशंका और भय से दबी रह जाती हैं। कहने का यह अर्थ है कि यह सब उसी संपूर्ण प्रक्रिया में योग देने वाला है, जिसे पुरुषवादी समाज में स्त्री के क्षोभ, आक्रोश और न्याय की गुहार को कुंद करने की चाल से रचा गया है।

इसके साथ–साथ, इस षड्‌यंत्रकारी प्रक्रिया में मीडिया की भूमिका का मूल्याँकन भी आवश्यक है। स्त्री–उत्पीड़न की घटनाओं के साथ मीडिया का

रूख अक्सर सहानुभूतिपूर्ण नहीं होता। ऐसी खबरों को जायकेदार अंदाज में प्रस्तुत करना मीडिया को सनसनीखेज अवश्य बनाता है, परंतु उत्पीड़ित पर इसकी सामाजिक प्रतिक्रिया नकारात्मक होती है। 'सबको पता चला जाएगा' वाली भयाकुल मानसिकता इससे और जड़ीभूत होती है और उसके बाद तो फिर आस–पड़ोस से लेकर संगे–संबंधी और शहर के लोगों की शंकापूर्ण, आरोपात्मक निगाहें उत्पीड़ित स्त्री का जीना दूभर कर ही देती है। 'तीसरी बेटी के नाम ये ठंडे सूखे बेजान शब्द' में मीडिया तथ्य को तोड़–मरोड़कर पेश करती है और 'प्रेतयोनि' में बलात्कार की शिकार लड़की को अखबार वाले सनसनीखेज अंदाज में पेश करते हैं। 'कलम की नोक से/पर बलात्कार' कहानी का यह अंश ध्यान देने योग्य है – "दरअसल घोटालों, धांधलियों, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, राजनीतिक षड्यंत्रों, माफिया पंगों, राजनीतिज्ञों के बयान से पाठकों का दिल भर गया है ... इसलिए अधजली लाश की व्यथा बताओ, बर्बर अत्याचार के अंतरंग किस्से सुनाओ – औरतों को दुख देने और किस्से पढ़ने में रस लेती है – भारतीय जनता।"[18] उपरोक्त पंक्तियों में सारा दोष भारतीय जनता पर मढ़ दिया गया है। यह कुछ हद तक सही भी है, क्योंकि सदियों से जिस मानसिकता का निर्माण हुआ है वह कहाँ जाएगी। लेकिन, लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के रूप में मीडिया की अपनी भूमिका क्या होनी चाहिए? क्या उसे इस मानसिकता का पोषण करना चाहिए, उसे और खुराक देनी चाहिए? मीडिया का उत्तरदायित्व मानसिकता के परिवर्तन का, संस्कार करने का भी है। जबकि मीडिया भी उसी पुरुषवादी भाषा का प्रयोग करती है – 'इज्जत चली गई' या 'मुंह काला किया'। इससे वास्तविक पुरुष अपराधी की जगह उत्पीड़ित स्त्री ही गुनहगार ठहरती है। निश्चित रूप से, मीडिया का यह रूख शोषण–उत्पीड़न की प्रक्रिया और उसे पुष्ट करने वाली मानसिकता में योगदान करता है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि स्त्री के यौन–उत्पीड़न या अन्य तरह के उत्पीड़नों में एक पूरा–का–पूरा तंत्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योगदान करता है। प्रत्यक्ष घटनाओं से लेकर अप्रत्यक्ष मानसिकता के निर्माण तक की इस पूरी

प्रक्रिया के अलग–अलग तत्वों की भूमिका को पहचान कर और उनके विरुद्ध प्रत्यक्ष और मानसिक लड़ाई लड़कर ही स्त्री अपनी वर्तमान दशा से उबर सकती है। स्त्री को सर्जक की बजाय ज्यों ही हम उपभोक्ता बनाते हैं तो एक ओर उसकी सामाजिक सीमा बांध देते हैं वहीं दूसरी ओर उसके सारे अधिकार भी छीन लेते हैं। स्त्रियाँ जगें, समाज में सम्मान से जीएँ इसके लिए जरूरी है कि उन्हें घर से बाहर निकलने, बोलने, रचने और आत्मनिर्भर बनाने की मानसिकता और चेतना के निर्माण का बहुस्तरीय प्रयत्न किया जाए। जागरूकता से संघर्ष को दिशा मिलेगी और तभी स्त्री की दुनिया बदलेगी, तब समाज भी बदलेगा।

संदर्भ–संकेत

---

1 खूबसूरत लिफाफा... बनाम फूल सरसों की हंसती फसल (देह देहरी) – दुर्गा हाकरे, पृ.187

2 ठहरी हुई बूंदें (देह देहरी) – सिम्मी हर्षिता, पृ.112

3 प्रेत योनि (देह देहरी) – चित्रा मुद्गल पृ.280

4 चीख (देह देहरी) – उर्मिला शिरीष, पृ.145,

5 प्रेत योनि (देह देहरी) – चित्रा मुद्गल पृ.273

6 चीख (देह देहरी) – उर्मिला शिरीष, पृ.141

7 काली लड़की का करतब (देह देहरी) – मंजुल भगत, पृ.61

8 जांच अभी जारी है (देह देहरी) – ममता कालिया, पृ.53

9 हंस : जनवरी–फरवरी 2000, पृ.165

10 जांच अभी जारी है (देह देहरी) – ममता कालिया, पृ.51

11 पायदान (उपन्यास) – सोना चौधरी, (भूमिका से)

12 जांच अभी जारी है (देह देहरी) – ममता कालिया, पृ.48

13 खूबसूरत लिफाफा... बनाम फूल सरसों की हंसती फसल (देह देहरी) – दुर्गा हाकरे, पृ.184–185

14 जोकर (देह देहरी) – अर्चना जोकर,, पृ.96

15 वही, पृ.104

16 वही, पृ.82

17 वही, पृ.104

18 कलम की नोक से/पर बलात्कार, (देह देहरी) पृ.167

तीसरा अध्याय
देह के साथ खिलवाड़

3.1 स्त्री–देह और परिवार

3.2 स्त्री–देह और समाज

3.3 देह की राजनीति

3.3.1 स्त्री–देह की संरचना

3.3.2 उत्पीड़क की मानसिकता और उत्पीड़ित की मनःस्थिति

देह के साथ खिलवाड़

3.1 स्त्री–देह और परिवार :

समाज में स्त्री को दो तरफ से मार झेलनी पड़ती है – एक समाज की तरफ से दूसरी परिवार की तरफ से। स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं है। स्त्रियों के बारे में यह कहा जाता है कि शादी के पहले पिता उसे संरक्षण देता है, शादी के बाद पति और बुढ़ापे में बेटा संरक्षण देता है। साथ ही स्त्री के एक जैववैज्ञानिक पहलू को नैतिक – सांस्कृतिक आयाम देकर उसे 'इज्जत' नाम दे दिया जाता है। विडंबनात्मक स्थिति यह है कि निश्चय ही 'लुटना' या 'लुटाना' सदैव उसके मर्जी के विरुद्ध ही होता है, लेकिन अगर किसी परिस्थितिवश ऐसी घटना हो भी जाती है तो इस सामाजिक व्यवस्था में उत्पीड़ित स्त्री ही अपराधी ठहरती है। फिर चाहे पिता या पति द्वारा ही क्यों न उसका उत्पीड़न किया गया हो। परिवार के भीतर यौन–उत्पीड़न की समस्या स्त्री के साथ जुड़ा हुआ बहुत कड़वा सच है। इस शोषण–प्रक्रिया में दोनों का वर्ग एक ही होता है – एक उत्पीड़क वर्ग दूसरा उत्पीड़ित वर्ग। अगर हम अपने पूरे सामाजिक परिवेश को देखें तो पाते हैं कि इस शोषण–प्रक्रिया में सभी वर्ग के लोग आते हैं चाहे वह रिक्शावाला हो, खोमचे वाला या उच्च वर्ग के लोग। जैसे ही इनके अंदर का पुरुष–पशु जागता है ये स्त्री रूपी शिकार पर झपट पड़ते हैं।

परिवार के बाहर तो स्त्री को संघर्ष करना ही पड़ता है लेकिन परिवार के अंदर का पुरुष यदि यौन–उत्पीड़न पर उतारू हो जाए तो स्त्री की यंत्रणा क्या होगी? कमल कुमार की कहानी 'नहीं–S बाबू जी–S नहीं–SS' में सविता की माँ डेढ़ साल के अंदर तीन बच्चों को जन्म देती है। इससे स्पष्ट रूप से यह बात सामने आती है कि उसके पिता को उसकी माँ की भावनाओं, संवेदनाओं से कोई लेना देना नहीं था। वह तो मात्र उसकी देह का भूखा था जिसका परिणाम बच्चे थे। अपनी इसी मनोवृत्ति के चलते वह अपनी बेटी जो किशोरावस्था की दहलीज पर खड़ी थी के साथ बलात्कार करता है। कमल कुमार अपने वक्तव्य में सविता जैसी बेबस पुत्रियों की स्थिति का चित्रण करती

हुई कहती हैं कि ऐसी लड़कियाँ आमतौर पर हमारे समाज में कहीं भी देखी जा सकती हैं "पीला चेहरा, सूखे होठ, डरी सहमी और चुप। ...सब खेलते वह चुप एक कोने में बैठी किसी दूसरी दुनिया में होती। लेकिन उसकी यह दुनिया जरूर भयानक रही होगी। जरा सी आवाज से चौंक जाती।"[1]

उसकी दूसरी दुनिया की थाह भले ही देखने वाले को न लगे लेकिन उसकी मार्मिकता का अंदाजा लगाया जा सकता है कि कितना भयानक और त्रासद होगा उस दूसरी दुनिया में विचरण करना। साथ ही गुड़िया–गुड्डे के खेल में यह कहना कि गुड़िया मर गई और गुड्डे को बाहर फेंक देना कहीं–ना–कहीं अवचेतन में पुरुष वर्ग के प्रति जमे हुए आक्रोश को व्यक्त करता है। उसका यह कहना कि गुड़िया मर गई कहीं–ना–कहीं अपने पिता द्वारा किए गए कुकृत्य की ओर संकेत करता है। उस नन्हें से मन में यह बात बैठ गई कि उसकी जिंदगी बर्बाद हो गई है। चूँकि वह अभी बच्ची है इसलिए उसके अंतर्मन में सचेत स्त्री के विचार नहीं आ पाते हैं, लेकिन उसको इस बात का बोध है कि उसके साथ जो हुआ वह सही नहीं था। इसलिए वह गुड्डे और गुड़िया के खेल में यह कहती है कि गुड़िया मर गयी।

इसी प्रकार नासिरा शर्मा की 'बिलाव' और डा. स्नेह मोहनीश की 'निर्णय के बाद' में पिता ही बेटी को अपनी हवस मिटाने का साधन बनाता है। दोनों कहानियों में ही स्त्री पात्र सशक्त रूप से उभर कर सामने आया है। बिलाव की सोनामाटी पति द्वारा बेटी का बलात्कार करने पर अपने पति को मार–मार कर लहुलुहान कर देती है, वहीं 'निर्णय के बाद' में काम करने वाली श्यामाबाई को जब यह पता चलता है कि उसके पति ने ही उसकी बेटी का बलात्कार किया है तो वह गंडासे से उसका गला काटकर पुलिस को सूचित करती है। निःसंदेह यह कोठी में काम करके अपना खर्चा खुद चलाने वाली स्त्रियों का आत्मविश्वासी विवेक है। 'बिलाव' कहानी की सोनामाटी पिता द्वारा उत्पीड़ित अपनी बड़ी बेटी मैना को नारी मुक्ति मोर्चा संस्थान में भावनात्मक उपचार के लिए भर्ती करके अपनी छोटी बच्ची को लेकर नई जगह पर जिंदगी को नए सिरे से शुरु करने का संघर्ष शुरु करती है। उसकी जिजीविषा काबिले तारीफ

है। लेकिन भविष्य के सपनों की उसकी बुनावट तब उघड़ने लगती है, जब नए मुहल्ले में उसका अतीत उघड़ जाता है – "बात खुली तो लोगों की आंखें बदल गईं। जितनी तरह के लोग उतनी तरह के नजरिए सोनामाटी के लिए पैदा हो गए। सुख से जीती सोनामाटी फिर एक बार सिहर गई।"[2]

मैना के साथ पिता द्वारा किए गए जघन्य कृत्य से झुग्गियों की स्त्रियों में एक अजीब सा खौफ जन्म लेता है –

"अपने ही घर में अपनों से डर लगने लगा। रिश्तों में झिझक आ गई और एक अनकही शिकायत हर औरत के होठों पर आकर अटक गई।"[3]

लेकिन विडंबना यह है कि उनमें से हर कोई सोनामाटी नहीं बन सकती। बलवीर जैसे बिलाव को पति होने के बाद भी, इस समाज में कितनी औरतें अपनी जान से मारने तक का माद्दा रखती हैं या उसके बाद थाने तक पहुंचा सकती हैं। इस प्रयास को आर्थिक आजादी या आत्मनिर्भरता से जोड़कर देखा जा सकता है। यह बात दीगर है कि पुरुषवादी समाज की संरचना के कई ऐसे हथियार हैं जिसमें सोनामाटी जैसों की साहसिक पहल या आत्मविश्वास को तार–तार करने की क्षमता है। यह पूरा–का–पूरा एक चक्रव्यूह है।

इसी प्रकार 'निर्णय के बाद' कहानी की श्यामाबाई, यह जानते हुए भी कि इसी 'पिता के साये' के लिए उसने तीन–तीन शादियाँ कीं, अपने पति को मारते वक्त तनिक भी नहीं हिचकती। पिता का यह कथन कि – "पेड़ मैंने लगाया है तो फल कोई दूसरा क्यों खाए? मैं ही चखूंगा"[4] निर्धारित मानवीय संबंधों की मयार्दा को धूल–धूसरित कर देता है।

यह बड़ी ही शोचनीय स्थिति है कि एक पिता जो हमारे इस समाज में घर का मुखिया होता है अगर अपने संतान के प्रति ऐसा रवैया रखेगा तो इस समाज में रिश्तों की कोई अहमियत रह जाएगी? यह कैसी पुरुषवादी सामाजिक व्यवस्था है जो खुद अपनी सहूलियत के लिए नियम बनाती है और फिर खुद

ही उसे अपनी सहूलियत के लिए तोड़ती भी है। ऐसी घटनाएँ आजकल हमें अक्सर समाचार पत्रों में देखने को मिल ही जाती हैं।

इसमें एक साथ दो–दो पुरुष चरित्र के अध्ययन से लेखिका ने पुरुष मनोवृत्ति को बखूबी दिखाया है। एक तरफ जहाँ पिता द्वारा बेटी का बलात्कार किया जाता है वहीं हम देखते हैं विमल के अमर्यादित प्रस्ताव को श्यामाबाई द्वारा ठुकराये जाने मात्र से ही उसे चरित्रहीन घोषित कर दिया जाता है। और पत्नी द्वारा कहे जाने पर भी वह (विमल) श्यामाबाई के संकट में पड़ जाने पर उसकी मदद के लिए तैयार नहीं होता है।

इस पुरुषवादी समाज में स्त्री अगर पुरुष की मर्दानी आंखों में फिट बैठती है तो उसके लिए आर्या, सुभगा, पूज्या, पतिव्रता, सती–सावित्री, साध्वी, गृहिणी आदि शब्दों के मीठे व्यंजन परोसे जाते हैं और अगर अनफिट बैठे तो कुलटा, छिनाल, व्यभिचारिणी, शूद्रा, प्रमदा, कर्कशा, कड़ाकुड़ आदि हत्यारे शब्दों का छापामार दस्ता उसे चौतरफा घेर लेता है। 'तुक' का नायक नरेश ब्रिज का खेल खेलता है। उस खेल का परिणाम निर्धारित करता है कि विवाह संस्था द्वारा प्रदत्त एक स्त्री–देह कैसे भोग का पात्र बनेगी – विजेता के दर्पयुक्त भोग की या पराजित की क्रूरता–युक्त भोग की। पत्नी का बयान है – "तभी मेरी समझ में आ गया कि उसके लिए ताश का खेल भी बैंक में नौकरी की तरह एक व्यवसाय है और मैं वह फुटकर कैश, जिसका प्रयोग वह व्यवसाय में हुए नुकसान को भरने के लिए, या लाभ पर खुशी मनाने के लिए करता है।"[5]

यौन–उत्पीड़न की एक परिस्थिति किस प्रकार परिवार के भीतर भी बल्कि स्वयं पति द्वारा बनाई जा सकती है, यह इस कहानी में दिखता है। आमतौर पर यह माना जाता है कि यह बर्बरता स्त्री को अपने पारिवारिक दायरे से बाहर ही अपना शिकार बनाती है। परंतु यहाँ पति ही पत्नी को एक वस्तु मानता है और अपने बाह्य क्रियाकलापों का ठीकरा उसके शरीर पर फोड़ता है – "और क्लब से लौटकर पहली बार उसने अपने मुंह से कहा कि ब्रिज के खेल में हार कर घर लौटा है। यह कहकर वह भूखे भेड़िए की तरह मुझ पर

टूट पड़ा। बिस्तर पर मेरी देह अभी तक वैसी ही नग्न पड़ी थी जैसी वह छोड़कर गया था। अपनी हार का तमाम गुस्सा उसने उस पर उतारा। उसके नाखूनों और दांतों के निशान मेरे ओठों, कंधों, वक्ष और पीठ पर उभर आए।"[6]

कहानी की नायिका, जो स्वयं अपने नाम का कोई महत्व नहीं मानती – "वैसे मेरा नाम मीरा है पर उसका कोई महत्व नहीं है"[7]–कहती है – "मेरी जान–पहचान की हर शादीशुदा औरत औरों को यह विश्वास दिलाते–दिलाते कि वह अपने पति को दिल से चाहती है, खुद उस पर विश्वास भले ही करने लगी हो, मन से वह जानती है और मैं भी जानती हूं कि ऐसा है नहीं।"[8] दरअसल उसके लिए पति का कोई भावनात्मक महत्व नहीं रह गया है।

'तुक', 'अनुगूंज', और 'ताश का घर' आदि कहानियों में पति अपनी पत्नी को मात्र एक वस्तु मानता है और अपने बाह्य क्रियाकलापों का ठीकरा उसके शरीर पर फोड़ता है। स्त्री की भावनाओं व संवेदनाओं की अनदेखी कर उसकी देह को अपनी जागीर समझने वाले पुरुष का पति रूप में किया गया इस प्रकार का व्यवहार क्या यौन–उत्पीड़न की श्रेणी से बाहर है? 'तुक' कहानी का नायक नरेश जब भी ब्रिज का खेल खेलता है और उस खेल में हारता तो वह विवाह संस्था द्वारा प्रदत्त पत्नी के रूप में स्त्री–देह पर अपना गुस्सा उतारता है।

दीपा अग्रवाल की कहानी 'ताश का घर' में पिता और पति दोनों ही द्वारा उसका दैहिक और मानसिक शोषण होता है। जिसका परिणाम होता है कि वह मानसिक रूप से बीमार हो जाती है। अर्चना वर्मा की 'नौकर' कहानी में सुगंधा का बलात्कार खुद उसका चाचा ही करता है और साथ में यह हिदायत भी देता है कि वह किसी के सामने अपना मुंह न खोले।

ये कहानियाँ इस बात की ओर संकेत करती हैं कि आज भी स्त्री इस समाज द्वारा बनाई गई पुरुषवादी व्यवस्था के खिलाफ मुंह खोलना नहीं चाहती है। इसके मूल में हमारी सामाजिक व्यवस्था है। ऐसा नहीं कि अपनी यंत्रणा या वंचना को ऐसी स्त्रियाँ महसूस नहीं करतीं। वस्तुतः सामाजिक ताने–बाने की जटिलता के कारण वे मात्र इन परिस्थितियों के प्रति उदासीन होकर अपनी

प्रतिक्रिया व्यक्त करती हैं। उदासीनता बरतना परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया तो है, परंतु उसका स्वरूप नकारात्मक है। सकारात्मकता स्त्रियों की सक्रिय प्रतिक्रिया में दिखेगी और इसे दिखना चाहिए।

3.2 स्त्री–देह और समाज :

स्त्री भारतीय समाज का वह तबका है, जो सर्वाधिक उत्पीड़ित है। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देना तो बहुत दूर की बात है उन्हें मनुष्य तक नहीं समझ जाता। पुरुष–सत्तात्मक समाज में स्त्री के साथ वस्तु के समान व्यवहार किया जाता रहा है। बीसवीं शताब्दी नारी जाति की प्रगति का काल समझा जाता है। इस काल में नारी ने अपनी स्थिति को पहचानने और अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्ष किया। स्त्री पुरुष के उपभोग के लिए है, उसके जीवन और निर्णयों पर पुरुष का अधिकार है और वह पुरुष पर आश्रित है – नारी ने इस सोच पर प्रश्नचिह्न लगाने शुरु कर दिए हैं। ममता कालिया की कहानी 'जांच अभी जारी है' और दुर्गा की कहानी 'खूबसूरत लिफाफा बनाम... फूल सरसों की हंसती फसल' की स्त्री पात्रों को किस तरह से इस पुरुषवादी मानसिकता वाले समाज का सामना करना पड़ता है यह देखा जा सकता है। 'जांच अभी जारी है' की अर्पणा और 'खूबसूरत लिफाफा बनाम... फूल सरसों की हंसती फसल' की लुईसा – दोनों ही आर्थिक दृष्टि से संपन्न होने के बावजूद इस समाज के शोषण का शिकार होती हैं। अपर्णा बैंक में काम करती है। लेकिन कहानी में हम देखते हैं कि किस तरह से अपने उच्च अधिकारियों को दैहिक रूप से तुष्ट न करने के कारण एल.टी.सी के झूठे बिल पेश कर बैंक के साथ धोखाधड़ी के मामले में उस पर केस कर दिया जाता है। जबकि सारे बैंक कर्मचारी यह जानते थे कि अर्पणा ने झूठे बिल नहीं पेश किए हैं, लेकिन कोई भी उसके पक्ष में नहीं खड़ा होता है। इसका मूल कारण है कि इस समाज में स्त्री की स्थिति हमेशा दोयम दर्जे की रही है। इस पुरुष समाज ने स्त्री को कभी भी अपने बराबर का नहीं माना। अपर्णा को बैंकों में काम करने वाली महिला सहकर्मियों ने उसे पहले से बैंक में कार्यरत पुरुष अधिकारियों की नीयत के बारे में बता दिया था। इसलिए अर्पणा तो बच जाती

है, लेकिन अगर हम ध्यान से अपने आस–पास के परिवेश में देखें तो कई ऐसे उदाहरण हमें देखने को मिल ही जाते हैं कि आर्थिक दृष्टि से संपन्न महिलाएँ भी किस तरह पुरुष के शोषण का शिकार होती हैं। इसी प्रकार 'खूबसूरत लिफाफा बनाम... फूल सरसों की हंसती फसल' में रूही और लुईसा दोनों ही इस शोषण तंत्र की शिकार होती हैं। यह बात दीगर है कि लुईसा का दैहिक शोषण नहीं होता है लेकिन मानसिक शोषण में कोई कसर बाकी नहीं रह जाती है। डा. फिलो सिंह जैसे चरित्र हमारे समाज में अक्सर देखने को मिल ही जाते हैं जो स्त्री को मात्र भोग की वस्तु समझते हैं।

"जीवन भर कुमारी रहकर कौन सी पदवी प्राप्त करनी है तुम्हें? तुम मुझे केवल एक मौका दो, कसम खाकर कहता हूं अपनी पालतू बनाकर न छोड़ दूं तुम्हें तो कहना।"[9]

इन दोनों कहानियों की स्त्री पात्र अपने–अपने तरीके से समस्या को सुलझाती हैं। वे चुप नहीं बैठती हैं क्योंकि चुप रहने से इस तरह के शोषण को बढ़ावा ही मिलता है। लुईसा और अर्पणा तो बलात्कार का शिकार होने से बच जाती हैं, लेकिन बहुत सी लड़कियाँ इस प्रकार के शोषण का शिकार होती हैं। उर्मिला शिरीष की 'चीख', और चित्रा मुद्गल की 'प्रेत योनि' बलात्कार की शिकार हुई लड़कियों की कहानी है। इन दोनों कहानियों की समस्या एक ही है – दैहिक शोषण की समस्या। किस तरह से बलात्कार करने वाला समाज में स्वच्छंद होकर घूमता है और उत्पीड़ित स्त्री को सामाजिक यंत्रणा का सामना करना पड़ता है इसे इन कहानियों में दिखलाया गया है। एक स्त्री जो इस प्रकार के शोषण का शिकार होती है कैसे वह तिल–तिल कर मरती है; क्योंकि इसकी भोक्ता और साक्षी एक मात्र वही होती है, बाकी पूरा–का–पूरा समाज चाहे वो रिश्ते–नाते हों या स्वयं उसका परिवार इस पूरी स्थिति को नहीं देख पाता है। जिस अवसाद से वह गुजर रही होती है। हमारे इस समाज में जब भी कोई लड़की इस प्रकार के हादसों का शिकार होती है दोषी उसे ही माना जाता है। वैसे भी समाज ने स्त्री के लिए कई नैतिक प्रतिमान गढ़े हैं। जैसे उन्हें तेज नहीं बोलना चाहिए, तेज चलना नहीं चाहिए, छोटे कपड़े नहीं पहनने

चाहिए, रात में बाहर नहीं निकलना चाहिए, हँसते वक्त दांत नहीं दिखना चाहिए आदि। जो स्त्री इन सारे नियमों को नहीं मानती उसे इस पुरुषप्रधान समाज ने कई उपमाओं से भी विभूषित किया है जैसे, कुलटा, पतिता, आदि। लेकिन प्रश्न यहाँ यह उठता है कि 'चीख' और 'प्रेतयोनी' की स्त्री पात्रों का उनके साथ हुए बलात्कार में क्या दोष था? क्या उनका दोष यह था कि वे स्वतंत्र विचारों की थी? 'चीख' की उत्पीड़ित लड़की का यह मर्मबेधक प्रश्न निहायत बुनियादी मुद्दे को उठाता है – "मूर्ति पर जल चढ़ाने वाला भक्त कहा जाता है। फिर जीती–जागती हाड़–मांस की मूर्ति को खंडित करने वाला पापी क्यों नहीं माना जाता है? क्यों नहीं वह बहिष्कृत होता है? क्यों वह बेखौफ बेलिहाज समाज की छाती पर घूमता रहता है?"[10]

इस प्रकार के हादसों की शिकार लड़कियों को हमारे समाज में कलंक की तरह देखा जाता है। साथ ही जिस सहारे के बल पर वे समाज के थपेड़ों का सामना करती हैं, अक्सर यह देखा जाता है कि ऐसी स्थिति में परिवार भी उसका साथ छोड़ देता है। 'चीख' में उसके पिता के लिए यह आत्मग्लानि का सवाल होता है।

प्रायः इस तरह के विचार स्वतः ही इस तरह की घटना होने के बाद आने लगते हैं। लेकिन इसमें सोचने की बात यह है कि इस तरह की घटना के बाद इसे इज्जत, शर्म, प्रतिष्ठा, नैतिकता से क्यों जोड़ा जाता है? परिवार के बाहर जब किसी स्त्री के साथ बलात्कार जैसी घटना होती है तो उसे सबसे ज्यादा अपने परिवार से सहारा मिलना चाहिए क्योंकि जब वह इस तरह की दारूण स्थिति का सामना करके आती है तो वह अपने परिवार में ही सहारा खोजती है। जबकि अक्सर यह देखा गया है कि ऐसी स्थिति में शोषित लड़की अपने परिवार में ही नजर उठाकर नहीं जी पाती है। ऐसी स्थिति में कुछ कहने की जरूरत नहीं होती, क्योंकि इस तरह की घटनाओं के लिए सूचना ही पर्याप्त होती है उसे समाज और परिवार की नजरों से गिराने के लिए।

'प्रेत योनि' की स्त्री पात्र अनीता दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्रा है। छुट्टियों में घर जाते वक्त रेल दुर्घटना में तो वह बच जाती है, लेकिन

ऑटोरिक्शा वाला किस तरह से उसे अपनी हवस का शिकार बनाने का प्रयास करता है यह कहानी में देखा जा सकता है। अकेली स्त्री को देखते ही इस पुरुषप्रधान समाज में पुरुषों के अंदर कई प्रकार की मानसिक विकृतियों का जन्म होने लगता है जिसमें बलात्कार भी एक मानसिक विकृति है। इस तरह की प्रवृत्ति के जन्म लेते ही वह यह भी भूल जाता है कि उसके रिक्शे में बैठी सवारी की सामाजार्थिक स्थिति क्या है। कहने का अर्थ यह है कि इस विकृति की तुष्टि के क्रम में कोई भी स्तरीकरण या विभाजन आड़े नहीं आता है। 'प्रेत योनि' और 'चीख' की स्त्री पात्र, दोनों ही समाज को एक नई दिशा देती हैं। 'चीख' कहानी के अंत में मानसिक अंतर्द्वन्द्व से निकलने के बाद वह कहती है – "मैंने कोई गलती या अपराध नहीं किया जिसके लिए मैं आत्मग्लानि में घुलूं। वह स्कूटर उठाकर चल दी.. उसे लगा आज आसमान एकदम स्वच्छ है और चमकीला है। जानी–पहचानी सड़क पर स्कूटर चलाते हुए उसका मन हवा से बातें करने लगा।"[11]

इसी प्रकार 'प्रेत योनि' की स्त्री पात्र अनीता आत्महत्या के प्रयास के दौरान ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाती है कि "वह एक से लड़ सकती है – पांच से क्यों नहीं लड़ सकती है? अब वह अकेली भी तो नहीं।"[12]

'अकेली भी तो नहीं' यह उस जुलूस की ओर संकेत करता है जो उसके ऊपर हुए उत्पीड़न के शिकारी को पकड़ने में हो रहे बिलंब के खिलाफ शांतिपूर्ण विरोध प्रदर्शन कर रहा था।

बलात्कार या यौन–उत्पीड़न एक प्रकार की हिंसा है। इसके खिलाफ चुप बैठने से ऐसी घटनाओं को सह ही मिलेगी। इसलिए आज जरूरत है कि उत्पीड़कों को सजा दिलाई जाए और इस प्रकार की घटनाओं को होने से रोकने के लिए विरोध प्रदर्शन किया जाए जिससे उत्पीड़ित भी समाज में सर उठाकर जी सके। आज स्त्री जाति की वर्तमान युवा पीढ़ी व आगे आने वाली पीढ़ी इस मामले में समाज–मनोविज्ञान के पिछले दबाव को झटककर मुक्ति की तैयारी में हैं।

चंद्रकांता की कहानी 'आवाज' में मुक्ति का अहसास और सामाजिक सोच से जुड़े कुछ तकलीफदेह सवाल हैं। इसमें बलात्कार के बाद की स्थिति को दिखाया गया है कि किस तरह से बलात्कार की शिकार हुई स्त्री को दो तरह की मार झेलनी पड़ती है – एक तन पर और दूसरा मन पर। अन्याय करने वाला स्त्री देह के साथ जो खिलवाड़ करता है वह तो, उस समय, एक खास क्षण में उसके तन के साथ खिलवाड़ करता है, लेकिन उस पीड़ित स्त्री की मानसिक पीड़ा को हमारा यह समाज और परिवेश अपने आचार–व्यवहार से निरंतर बढ़ाता रहता है। विन्नी का आतंकवादियों द्वारा बलात्कार कर दिया जाता है। इतना ही नहीं, वे उसे अपने साथ ले भी जाते हैं क्योंकि उनके सरदार को वह पसंद आ जाती है। आतंकवादी के बारे में यह कहा जाता है कि वे अपनी मुक्ति के लिए लड़ाई लड़ते हैं। लेकिन सवाल यह उठता है कि यह कैसी मुक्ति की लड़ाई है कि जिसकी मुक्ति के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं उन्हीं का शोषण–उत्पीड़न करें? इस प्रकार के तथाकथित जितने भी मुक्ति के आंदोलन हैं उसका वाहक पुरुष वर्ग ही रहा है। अक्सर हम देखते हैं कि इस मुक्ति के वाहक पुरुष वर्ग के अंदर तथाकथित पुरुषत्व जब जागता है तो कैसे उसकी मुक्ति की कामना वहाँ धरी–की–धरी रह जाती है या फिर लुप्त हो जाती है जब उनका सामना उस अपने एक तथाकथित मुक्ति के अभियान के क्रम में किसी एक स्त्री–देह से होता है।

राजी सेठ की कहानी 'परतें' में बलात्कार की मानसिकता का जिक्र है जिसमें कई मानसिकताओं का चित्रण किया गया है। बलात्कारी की जो एक मानसिक प्रवृत्ति होती है उसमें कई तरह का अंतर्द्वन्द्व होता है और इस अंतर्द्वन्द्व की प्रक्रिया में जब पशुता मनुष्यता पर एवं संयम कामुकता पर हावी हो जाता है अर्थात् व्यक्ति के अंदर की सकारात्मक प्रवृत्तियाँ जब हावी नहीं रह जाती हैं तभी बलात्कार की प्रवृत्ति का जन्म होता है और बलात्कारी आक्रामक होकर स्त्री–देह को अपना निशाना बनाता है। यह सोचने की बात है कि स्त्री–देह के मामले में पुरुषों की नकारात्मक प्रवृत्तियाँ ही अक्सर क्यों हावी हो

जाती हैं? इसलिए कि इनके लिए अनुकूल और उर्वर परिवेश समाज सुनिश्चित करता है।

'आवाज' में बलात्कार के मनोविज्ञान को दिखाया गया है। विन्नी से कहानी की शुरुआत होती है। कर्फ्यू की रात में कुछ आतंकवादियों का दस्ता उसके घर में आ जाता है, पानी माँगता है, पानी पीने के क्रम में वो विन्नी को देखते हैं और यहीं पर उनके मुक्ति के अभियान के नेपथ्य की सच्चाई दिख जाती है। वे इस क्रम में अपने ही परिवेश के लोगों को अपनी दहशत का शिकार बनाते हैं और उस क्षेत्र के लोगों पर ही उनकी पशुता और बर्बरता कहर बनकर टूटती है। यह कहर सिर्फ हत्या कर देने से जुड़ा हुआ मामला नहीं है। यह उस सनातन पुरुषवादी मानसिकता का परिचायक है जहाँ स्त्री–देह मात्र शोषण की अधिकारी है। लेखिका उस परिवार की बेचारगी के वर्णन के क्रम में एक कड़वे सच का बयान करती टिप्पणी करती हैं –

"रोते गिड़गिड़ाते श्री कृष्ण को याद किया। पर श्रीकृष्ण ने चीर नहीं बढ़ाई। माँ–पापा बंद कमरे में बेटी की दबी घुटी चीखें सुनते रहे और ईश्वर से सहायता माँगते रहे। लेकिन ईश्वर कर्फ्यू की रात में कैसे आ पाता?"[13]

कर्फ्यू और ईश्वर इन दोनों की प्रतीकात्मकता से उस समय की संपूर्ण सामाजिक मानसिकता का पता चलता है। द्रौपदी ने अपने चीर–हरण के समय जब कृष्ण को आवाज लगाई तो उन्होंने दुःशासन से द्रौपदी की रक्षा के लिए चीर बढ़ा दिए। लेकिन आज के समय में चाहे व्यक्ति के रूप में हो या शासनतंत्र के तौर पर हो कोई स्त्री की मदद निरपेक्ष भाव से नहीं करता है। उस ऐतिहासिक दौर का श्रीकृष्ण आज इस पुरुष–प्रधान समाज में ढूँढे नहीं मिलता है लेकिन पुरुष वेश में छिपे दुःशासन अक्सर ही देखने को मिल जाते हैं।

विन्नी को बचाने न कृष्ण आते हैं न कोई ईश्वर। अंतहीन दैहिक शोषण की प्रक्रिया और उनके अत्याचारों को झेलते हुए वह उनके साथ रहती है। लेकिन इस पूरे क्रम में लगातार उत्पीड़न के दौर से गुजर रही विन्नी के अंदर जीने की आकांक्षा खत्म नहीं होती है। उसके ऊपर जो शारीरिक अत्याचार

किया जाता है उसके परिणामस्वरूप वह एक बच्ची की माँ भी बनती है। बच्ची को मार देने की धमकियाँ दी जाती है क्योंकि उन्हें यह डर रहता है कि आवाज सुनकर कहीं उसे पकड़ न लिया जाए। एक दिन जब वह वहाँ से भाग निकलने में कामयाब हो जाती है और मार्तण्ड के खंडहरों में आकर शरण लेती है तो अपनी बच्ची की आवाज उसे मुक्ति के शंखनाद के रूप प्रतीत होती है।

कहानी के लगभग अंत में एक प्रतीकात्मक पंक्ति आती है – "मुर्गे की पहली बांग से ध्वस्त मूर्तियाँ जाग उठी।"[14]

ये ध्वस्त मूर्तियाँ उन परिस्थितियों की परिचायक हैं जो विन्नी के अंदर आशावादिता और जीवन जीने की नई संभावना का संचार करती है। इस प्रकार के शोषण–चक्र को खत्म करने के लिए सबसे पहले स्त्री के अंदर से अपराध बोध हटना जरूरी है और 'आवाज' कहानी इसी की सार्थकता को प्रतिपादित करती है।

'बलात्कार औरत पर किया जाने वाला एक हिंसक अपराध है और इसकी रोकथाम के लिए जो कानूनी प्रक्रियाएँ व प्रावधान हैं, उसकी सच्चाई कानून के समक्ष स्त्री–पुरुष की समानता के दावों की खिल्ली उड़ती है। अरविंद जैन ने अपनी किताब 'औरत होने की सजा' में बहुत विस्तार के साथ हमारी अदालतों के पूर्वाग्रहों का पर्दाफाश करते हुए स्त्रियों के प्रति होने वाले कानूनी अन्यायों का मर्मान्तक लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है। अदालती न्याय की भाषा के लिंगीय दूराग्रहों पर टिप्पणी करते हुए विद्वान लेखक निष्कर्ष देते हैं कि लिंग पूर्वाग्रहों या व्यक्तिगत संस्कारों से रची यह भाषा, निस्संदेह न्याय की भाषा नहीं कही जा सकती । मर्दवादी भाषा का कोई भी नकाब, बीमार मानसिकता को छिपाने के लिए नाकाफी है। पर पीड़ा के आनंद खोजती अवांछित भाषा का ऐसा शब्दजाल न्याय की गरिमा के अनुकूल नहीं, 'आधी दुनिया' की गरिमा के तो बिल्कुल नहीं।

अरविंद जैन के अनुसार – "बलात्कार के आंकड़े पूर्ण रूप से अविश्वसनीय हैं क्योंकि बलात्कार की सभी दुर्घटनाएँ आंकड़ों तक पहुंचती ही नहीं। उनका मानना है कि जैसे–जैसे अश्लील यौन साहित्य, फिल्म, वीडियो,

वगैरह बढ़े हैं, वैसे–वैसे अपराध भी बढ़ते गए हैं। लेकिन इन अपराधों और अपराधियों की बाढ़ को रोकने के लिए कानून कौन–सा रूख अपनाता रहा है? अदालतों में किए गए अनेकानेक फैसलों का इतिहास बताता है कि बलात्कार को सिर्फ एक स्त्री के विरुद्ध अपराध नहीं बल्कि समस्त समाज के विरुद्ध अपराध मानने वाली अदालत पुरुष यौन अपराधियों के प्रति उतनी सख्ती के साथ पेश नहीं आती जितनी सख्ती उसे दिखानी चाहिए।"[15]

स्त्री के जीवन में पुरुष की बलात्कारी भूमिका से समाज के साथ वे थाने, न्यायालय और अस्पताल भी परिचित हैं जिन्हें इस मामले के विरोध में न्यायकारी भूमिकाएँ अदा करनी होती हैं। दरअसल पुरुषों के लिए ऐसी मनमानियाँ किसी नशे की तरह मानी गयी हैं। समझ लिया जाता है कि होश आने पर ठीक हो जाएगा। सवाल यह उठता है कि यदि स्त्री आनंद का साधन है तो विकास के इस दौर में उसे शामिल करने और बदलाव का ढोल बजाने का मकसद क्या है? एक तरफ तो कोठों से बच्चियाँ छुड़ाने का ढोंग चलता है तो दूसरी तरफ मध्य प्रदेश में भगवती जैसी तेरह वर्षीय अबोध माँ बलात्कार से उपजे जीवन को समेटे फिर रही है। आखा तीज में राजस्थान भर में होने वाले बाल विवाहों पर खूब चिल्ल–पों मचाई जाती है, सरकारें मुंह फाड़–फाड़ कर कानूनी दुहाइयाँ देती हैं और सरकारी दूत ये शादियाँ रोकने की भरसक कोशिश करते दिख जाते हैं।

समाज में बलात्कार की शिकार औरतों का एक बड़ा प्रतिशत मासूम बच्चियों का होता है। बचपन में जिस मासूम के साथ ऐसी हैवानियत भरी घटना हो क्या वह लड़की कभी सामान्य जीवन जी सकेगी? सेक्स के प्रति डर, शारीरिक संबंधों के दौरान घुटन, विपरीत लिंग का खौफ व मानसिक बीमारियों का शिकार बनकर यही बच्चियाँ जवानी में चिड़चिड़ी, उन्मादी या अजीबोगरीब व्यवहार करने वाली हो जाती हैं। कमल कुमार की कहानी 'नहीं–S बाबू जी–S नहीं–SS' में हम देखते हैं कि सविता का बलात्कार बचपन में ही उसके पिता द्वारा कर दिया जाता है। शादी के बाद भी यौन संबंधों को लेकर उसके मन में

एक अजीब सी घुटन होती है और अनिल के छूने मात्र से ही वह डर जाती है।

औरतों के साथ होने वाले इस प्रकार के बर्ताव उसे कमजोर बनाते हैं। उसे कमजोर कहकर किनारे सरकाने वालों को समझना होगा कि वह प्राकृतिक रूप से उतनी असहाय नहीं है जितनी मर्द जात द्वारा बनाई जाती है। स्त्री को 'देह' में बदलने के साथ ही उसे पुरुषों की गुलामी करने के लिए भी अभिशप्त किया गया है और आज भी 21वीं सदी में यह स्थिति बदली नहीं है। विवाह जैसी सामाजिक संस्था स्त्री–पुरुष समरसता और समानता के स्थान पर स्त्री की पुरुष आधीनता, गुलामी और निर्भरता का प्रतीक बन गई है। विवाह द्वारा स्त्री को घर के चौखट के अंदर कैद कर लिया जाता है। समाज के इस उत्तर आधुनिक दौर में भी विवाह के फैसलों में लड़की की अहम् भूमिका नहीं होती। प्रेम विवाह भारतीय समाज में आज भी मानसिक तौर पर पूर्ण स्वीकृत नहीं है। परंपरागत विवाह के द्वारा स्त्री का शारीरिक, मानसिक, वैचारिक और सामाजिक शोषण होता है। विवाह संस्था निश्चित रूप से एक पत्नीवाद से कहीं ज्यादा मर्द को सुनिश्चित कराती है कि अमुख कोख से उपजा शिशु आप के द्वारा ही अंकुरित है। खाने–रहने, पहनने और तमाम सुविधाओं के लिए जिस 'घर' की जरूरत 'पत्नी' पूरी करती है, वह समर्पण–अपनत्व–विश्वास और सुरक्षा कहीं और नहीं मिल सकती। बिना हील–हुज्जत के शुद्ध ईमानदारी और वफादारी के साथ एक औरत मान–अपमान की चिंता के बगैर सालों–साल अपना सब कुछ देती रहती है। इतना ही नहीं कि वंश–बेल चलाने के लिए वह बार–बार अपनी जान जोखिम में डालकर गर्भ धारण करती है बल्कि जब घर का मालिक बीमार या लाचार हो जाता है तब भी वह उसकी सेवा–सुश्रूषा करती रहती है। विवाह नाम की रूढ़ि के चलते औरतों को क्या–क्या नहीं भोगना पड़ता है? फेरे वह लेती है एक मर्द के साथ, मगर इसके एवज में उसका सारा खानदान उसके गले पड़ जाता है। औरत को हर पल यही समझाया जाता है कि ससुराल वालों की सेवा करो, उनका मन जीतो, उन्हें हर तरह से खुश रखो, सास–ससुर के पांव छुओ, उन्हें दबाओ, सिर पर रखकर पूजो। ननद–देवर को

बहन–भाई समझो, ससुराल की इज्जत को अपनी इज्जत समझो। लेकिन हम देखते हैं कि जब यही ससुरालवाले मिट्टी का तेल डालकर उसे भूनते हैं तब न यहाँ उनकी इज्जत रह जाती है और न ऐसा करने पर उनकी इज्जत ही जाती है।

विभिन्न कहानियों में वर्णित उत्पीड़क पुरुषों को देखकर यह स्पष्ट है कि इस समाज में ज्यादातर पुरुष अंततः पुरुष ही ठहरते हैं। रिश्तों, नातों, संबंधों का बंधन उन्हें अपनी हवस मिटाने से नहीं रोक सकता – उन्हें जरूरत पड़ने पर वासना के तूफ़ान को शांत करने के लिए मात्र एक अदद स्त्री–देह चाहिए और वह देह एक बच्ची की भी हो सकती है। वस्तुतः इस संदर्भ में उत्पीड़क और उत्पीड़ित की एकल श्रेणियाँ ही होती हैं – पुरुष और स्त्री। उम्र, रिश्ते, नाते, जाति, धर्म, सामाजिक– आर्थिक स्तर इस उत्पीड़न में कहीं आड़े नहीं आता – बस पुरुष बर्बरता को ठांव लगने की देर है।

3.3 देह की राजनीति :

स्त्री–देह के साथ खिलवाड़ के लिए इस पुरुषवादी समाज ने योजनाबद्ध ढंग से देह की राजनीति भी की है। योजनाबद्ध ढंग से इसलिए कि एक ओर तो स्त्री–देह की मनमानी संरचनात्मक व्याख्या की गई और फिर उसके शारीरिक पहलू को 'इज्जत' नाम की नैतिक–सांस्कृतिक भ्रामक अवधारणा से जोड़ा गया। उसके बाद उत्पीड़ित में संघर्ष का माद्दा ही न रहे इसके लिए उसे मानसिक रूप से तोड़ने के भी उपाय रचे गए। यह पूरा–का–पूरा एक चक्र है – स्त्री–उत्पीड़न का और इसके विरुद्ध सुगबुगाहट को कुंद कर देने का।

3.3.1 स्त्री–देह की संरचना :

हजारों साल से देखा गया है कि स्त्री को देह के सिवा कुछ नहीं माना गया। रीतिकाल ही नहीं, यदि हम इसके पहले के इतिहास को देखें तो सारा संस्कृत साहित्य ही स्त्री की देह–गाथा से भरा हुआ है। बहुत कम जगह है जहाँ स्त्री के मन की बात की गई है। मन की बात भी पुरुष को लेकर विरह–मिलन के संदर्भ में ही की गई है। समाज में पुरुषों ने स्त्री की देह को

जीते हुए उपनिवेश की तरह इस्तेमाल किया और अपनी सुविधानुसार उसके शरीर को दो भागों में बांट दिया। स्त्री कमर से ऊपर कविता है और कमर से नीचे स्त्री नरक का द्वार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोगों ने ज्यादातर स्त्रियों को सांस्कृतिक और साहित्यिक विमर्श के लगभग बाहर कर दिया। समाज में स्त्री को कभी भी संपूर्णता में नहीं देखा गया। बल्कि उसके बारे में अजीबोगरीब कल्पनाएँ की गई हैं कि स्त्री एक पहेली है, स्त्री एक रहस्य है, अध्यात्म है, यानी उसे एक मनुष्य के रूप में न देखकर एक ऐसे रूप में देखते हैं जैसे अंधेरे में किसी छाया को देखकर तरह–तरह की कल्पनाएँ होती हैं।

"जगत–घट को विष से कर पूर्ण
किया जिन हाथों ने तैयार
लगाया उसके मुख पर नारी
तुम्हारे अधरों का मधु–सार
नहीं तो कब का देता फोड़
पुरुष विष–घट यह ठोकर मार
उसी मधु का लेने को स्वाद
हलाहल पी जाता संसार।"[16]

हरिवंश राय बच्चन की उपर्युक्त पंक्तियाँ हजारों सालों से चले आते पुरुष संस्कार का सार है और साथ में यह भी बताती हैं कि पुरुष की निगाह में स्त्री क्या है। शब्द चाहे जो भी हों, पुरुष नारी को जो कुछ समझता है वह इन पंक्तियों से स्पष्ट है। सच तो यह है कि हमारी सारी परंपरागत सोच में नारी को दो हिस्सों में बांट दिया गया है। कमर से ऊपर की नारी और कमर से नीचे की औरत। हमारे इसी समाज में पुरुषों को हमेशा संपूर्णता में देखा गया है। उनकी कमियों और कमजोरियों के साथ उनका मूल्याँकन किया जाता है। लेकिन यही समाज नारी को संपूर्णता में नहीं देख पाता है। उसे अपने–अपने तरीके से व्याख्यायित करता है –

"कमर से ऊपर की नारी महिमामयी है, करूणामयी है, सुंदरता और शील की देवी है – वह कविता है, संगीत है, अध्यात्म है और अमूर्त है। कमर से नीचे वह कामकंदरा है, कुत्सित है और अश्लील है, ध्वंसकारिणी है, राक्षसी है और सब मिलाकर नरक है। इसी बँटे और दुहरे रवैये से लोग उसके शरीर की ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर की यात्राएँ करते हैं और उसके मातृत्व की शारीरिकता को नहीं, वात्सल्य की भावना को गरिमा देते हैं।"[17]

वस्तुतः इस प्रकार शब्दों के जाल से आदमी ने औरत की जिस एक चीज को मारा, कुचला या पालतू बनाया है वह है उसकी स्वतंत्रता। आदमी हमेशा से ही नारी की स्वतंत्र सत्ता से डरता रहा है और उसे ही उसने बाकायदा अपने आक्रमण का केंद्र बनाया है, क्योंकि तोड़कर ही किसी को कमजोर और पालतू बनाया जा सकता है। इसलिए आदमी ने लगातार उसे परतंत्र और निष्क्रिय बनाने की कोशिश की।

पुरुषों ने स्त्री के खून में यह भावना संस्कार की तरह कूट–कूट कर भर दी है कि वह सिर्फ और सिर्फ शरीर है। वह शरीर के सिवा उसकी किसी और पहचान से इंकार करता है। औरत उसके लिए सुमुखी, पयोधरा, क्षीणकटि, बिल्बस्तनी, सुभगा, भागवती है। पुरुष भी वृषभंस्कंध, बाहुबली, वज्रवक्ष और वीर्यवान है – मगर वह सिर्फ उतना ही नहीं है। वह मन, मस्तिष्क और मेधा भी है। बल्कि अधिकांश में वही है। हैनरी मिलर ने औरत को कष्ट कहकर संबोधित किया है और पंत ने इसे 'योनिमात्र रह गयी मानवी' कहा है।[18]

'देह' स्त्री की एकमात्र पहचान के रूप में उसका गुण भी है और गाली भी। जब तक वह पुरुष की इच्छा और वासना के नियंत्रण में है वह सौंदर्य है और ऐसा अवयव समूह है जो वांछनीय है, अगर उसके नियंत्रण से बाहर है तो दण्डनीय है। हमारी भाषा की सारी अश्लील गालियाँ या तो पुरुष की असमर्थता, अक्षमता की घोषणाएँ हैं या फिर स्त्री के द्वारा अपने शरीर के 'दुरुपयोग' की सामाजिक भर्त्सनाएँ या वासना के आवेश में नैतिक मर्यादाओं के उल्लंघन पर लांछन – बाप, भाई या बेटों के साथ संभोग सबसे बड़ी गाली है।

पुरुष औरत को सिर्फ शरीर या उसके कुछ अंगों को ही उसके संपूर्ण पहचान के रूप में देखता है। राजी सेठ की कहानी 'परतें' घरों में काम करने वाली तिन्नी की है। अपने किसी पूर्व अनुभव से डरी हुई अमोल राय के सुरक्षित घर में वह टांगे सिकोड़कर और कोठरी का दरवाजा अंदर से बंद करके सोती है। इस कहानी की कथाभूमि यौनवृत्ति है और सारा कार्य–व्यवहार चूंकि यौन क्रियाओं, कामेच्छा, उसके तुष्टिकरण की तरकीबों के आसपास घूमता है, इसलिए सब कुछ देह के दायरे में धंसा हुआ है। दिलावर एक पुलिस है। शहर में हो रहे आए दिन घटनाओं की छानबीन और पूछताछ के दौरान जब वह अमोलराय के घर जाता है तो वहाँ उसका सामना तिन्नी से होता है। जब वह तिन्नी से पूछताछ कर रहा होता है तो उसका ध्यान तिन्नी के तंग कुरते में कैद नन्हे वक्ष पर जाता है और वह उसे लेकर कई तरह की कल्पनाएँ भी करने लगता है –

"ऐसी चकाचक गोल गदरायी जैसी तिन्नी.... पैर पगलाए ललसाए–से हरदम एक ही दिशा में दौड़ते हैं। जी में आता है, इस काठ के दरवाजे को हथौड़े से कूट डाले। गेट पर पैर रखकर बॉलकनी में कूद लगाए, सौदा–सुलफ के लिए निकलती तिन्नी की गठरी बनाकर गायब कर दे। उसे पता ही क्या है दिलावर की ताकत के बारे में? मिल–भर जाए तो भुस्स बना कर फेंक दे... सोचते–सोचते पता नहीं कौन–सा हिस्सा उत्तेजित होने लगता है दिलावर का।"[19] ऐसी सोच हमारे समाज की परंपरागत स्त्री–संबंधी मान्यताओं को दर्शाती है जहाँ स्त्री भोग की वस्तु है चाहे वह घर में काम करने वाली नौकरानी हो या कोई भी स्त्री–देह चाहे खुद बेटी की उम्र की ही क्यों न हो। पुरुषों के इस समाज में स्त्री की सबसे पहले पहचान उसकी देह होती है।

इसी प्रकार दुर्गा हाकरे की कहानी 'खूबसूरत लिफाफा बनाम... फूल सरसों की हंसती फसल' में डा. फिलो अंबिकापुर में स्थित ए.एन.एम. ट्रेनिंग सेंटर का हेड है। ट्रेनिंग करने आई लुईसा को जब वह देखता है तो कहता है कि "क्या करूं तुम्हारी सांवली–सलोनी सूरत मेरी आंखों के सामने से हटती

नहीं है। हर पल–क्षण मेरे पौरुष को चुनौती देती रहती है। क्या पापड़ नहीं बेले तुम्हें पाने के लिए।"[20]

आदमी ने यह मान लिया है कि औरत शरीर है, सैक्स है, वहीं से उसकी स्वतंत्रता की चेतना और स्वच्छंद व्यवहार पैदा होते हैं। इसलिए वह हर तरह से उसके सैक्स को नियंत्रित करना चाहता है। सामाजिक आचार–संहिताओं, यानी मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों से लेकर व्यक्तिगत काम–सुख तक औरत को बांधने और जीतने की कलाएँ हैं। क्या यह आकस्मिक है कि औरत को जीतने या उसे अपना गुलाम बनाने के लिए अनगिनत वशीकरण, साधनाएँ, सिद्धियाँ, औषधि, आसन हैं। पौरुष और काम–संवर्धन के लिए दुनिया भर के नुस्खे और दवाईयाँ हैं। एक भी नुस्खा औरत की कामशक्ति बढ़ाने के लिए नहीं है और न उसके लिए कोई कामसूत्र है। बल्कि यहाँ ऐसी गोपनीयता और निजता बरती गई है कि ये सारे गुर या मंत्र सिर्फ पुरुषों के लिए है। स्त्री में तो स्वाभाविक रूप से ही कामशक्ति पुरुषों से आठ गुनी अधिक है। वह स्वयं काम है, उसे ही जीतना, नियंत्रित करना है, या फिर कुचलना है। लेकिन जब औरत स्वयं अपने को इस रूप में देखने या मानने लगती है तो बौखला उठता है – अर्थात् स्त्री शरीर रहे, लेकिन अपने आपको सिर्फ उतना ही शरीर माने जितना कि मुझे जरूरत है। उससे अधिक मानना उसकी 'उच्छृंखलता' और 'अमर्यादा' है। 'कंकाल' उपन्यास में प्रसाद ने यह स्वीकार किया है कि "पुरुष नारी को उतनी ही शिक्षा देता है जितनी उसके स्वार्थ में बाधक न हो।"[21]

साहित्य और समाज में सबसे बदनाम, बहिष्कृत और गुमराह औरते वे हैं जो अपने शरीर और मन को अपने पतियों, स्वामियों या अभिभावकों तक ही सीमित नहीं रख पाई। यानी शरीर की मांग ने जिनके भीतर एक स्वतंत्र इच्छाशक्ति जगा दी। वे कुलटा, छिनाल, रंडी, पतिता इत्यादि के नाम से सजा की अधिकारिणी हुई। उन्हें गुपचुप या सार्वजनिक रूप से 'सजा' को हर समाज ने जायज ही माना। जहाँ अपने स्वामियों या अभिभावकों की इस सजा से वे

किसी कारण बच निकली, वहाँ वे भयानक, ऐयार, तेज, षड्यंत्रकारिणी मानी गई।

भारतीय समाज में नारी का अपना न कोई व्यक्तित्व रहा है न जाति। वह ऐसा रत्न है जिसे कहीं से उठाया जा सकता है और जिसके पास है उसी की संपत्ति है। वह व्यक्ति नहीं चीज है जिन्हें लूटा, छीना और नष्ट किया जा सकता है, खरीदा और बेचा जा सकता है। औरत को हर स्थिति में उन्हीं अपराधों की सजा मिली है जिसकी जिम्मेदार वह कतई नहीं रही है। जिस तरह उसने औरत होकर अगले हर क्षेत्र में भेदभाव की जिंदगी नहीं चुनी थी, उसी तरह उसने अपने काले गोरे या सुंदर–असुंदर होने का चुनाव भी नहीं किया था। विवाह से पहले गर्भधारण कर लेना भी शायद उसका चुनाव नहीं था – न उसका चुनाव यह है कि वह विवाह के बाद भी गर्भ धारण करे और बांझ कहाये। उसके बेटा हो या बेटी, क्या यह वह खुद तय कर सकती है? या उसका पति नपुंसक या नकारा हो, यह उसकी आकांक्षा पर है? पति या परिवार का कोई और सदस्य कहीं किसी बीमारी, दुर्घटना या हादसे में मार जाए, इसके लिए वह क्यों जिम्मेदार है? चार आदमी शारीरिक जबरदस्ती से उसके साथ बलात्कार कर डालें तो वह दंडनीय, अस्वीकार्य, अस्पृश्य और अभागी है? उसे इन सारे अपराधों की सजा मिलती है यानि सामाजिक अपमान, व्यक्तिगत प्रताड़ना या मौत की सजा भोगनी पड़ती है। घर और बाहर की इस समस्या या विडंबना को रघुवीर सहाय की कविता बेहद सुंदर ढंग से प्रस्तुत करती है –

"पढ़िए गीता, बनिए सीता
फिर इन सबमें लगा पलीता
निज घर बार बसाइए
होय कटीली
लकड़ी सीली
आंखें गीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भर–भर भात पकाइए।"[22]

हमारे समाज की यह विडंबना है कि स्त्री के जैववैज्ञानिक पहलू को एक नैतिक–सांस्कृतिक आयाम देकर उसे 'इज्जत' नाम दे दिया जाता है। 'जोकर' कहानी में मिसेज प्रतिमाकांत के इस कथन के मर्म को समझने की जरूरत है कि "20वीं सदी की आखिरी चौथाई में भी इस कम्बख्त इज्जत का पता नहीं बदला अभी तक।"[23]

'इज्जत' को स्त्री के चरित्र या उसकी अस्मिता से जोड़ देना पुरुषवादी समाज का षड्यंत्र है। साथ–साथ उसके चरित्र को इस 'इज्जत' से संबद्ध कर उससे उपेक्षा की जाती है कि वह इस पुरुषवादी समाज में इसे 'लुटने' से बचाए रखे, जबकि तमाम व्यवस्थापरक संरचना यह सुनिश्चित करने वाली है कि स्त्री की निरीहता, हीनता, अशक्तता में कोई कसर बाकी न रहे। यदि यौन–उत्पीड़न हुआ भी है तो इस सामाजिक व्यवस्था में उत्पीड़ित स्त्री ही अपराधी ठहरती है। उसे समाज में नजरें चुरानी पड़ती हैं तथाकथित अपराधी मर्दानगी का तमगा लटकाए घूमता है और उत्पीड़ित स्त्री सामाजिक लांछना से उत्पन्न मानसिक यंत्रणा की सजा आजीवन भोगती है। 'मुहब्बताबाद की साबित्री' जिससे चित्रा मुद्गल को 'देह देहरी' के संकलन की प्रेरणा मिली, उसका कथन भी इसी सत्य को उद्घाटित करता है। वह कहती है – "और ऊपर से निपट अकेली राह मेड़ चलती जनानी पे इनमें से कौन मरदुआ हाथ नहीं धरता जो ये अपनी जनानी को सुरक्षित मानें? दूर डाकखाने उसे जाने दे? जनानी अपनी योनि घर में छोड़कर तो बाहर निकल नहीं सकती, दीदी।"[24]

ध्यान देने की बात यह है कि 'लुटना' या 'लूटना' निश्चय ही मर्जी के विरुद्ध होता है और यदि स्वयं पिता ही इस कृत्य का अपराधी हो तो? कहानियों से यह बात स्पष्ट रूप से उभरती है कि स्त्री इस समाज में कहीं भी सुरक्षित नहीं है। चाहे वह पिता का घर हो या पति का, सूनी सड़क हो या भीड़ भरे बाजार या फिर, काम करने की जगह। हाँ, ये सभी जगह या पूरा–का–पूरा सामाजिक परिवेश पुरुष की बर्बरता और यौन–हिंसा के अभयारण्य अवश्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरुषवादी समाज ने स्त्री–देह की मनमानी संरचनात्मक व्याख्या की तथा उससे जुड़ी हुई अनेक विसंगतियों, भ्रामक धारणाओं की सृष्टि कीं। प्रस्तुत संगह की अनेक कहानियों में उपर्युक्त प्रसंग एकाधिक बार आए हैं।

3.3.2 उत्पीड़क की मानसिकता और उत्पीड़ित की मनःस्थिति :

देह की राजनीति में उत्पीड़न के मनोवैज्ञानिक पक्ष को भी समझने की जरूरत है। उत्पीड़क की अपनी मानसिकता होती है, जिसमें स्त्री को मानसिक रूप से क्षतिग्रस्त करने का षड्यंत्र होता है। इस तरह से देखें तो उत्पीड़न के पूर्व उत्पीड़क की मानसिकता और उत्पीड़न के बाद उत्पीड़ित की मनःस्थिति स्पष्ट हो जाती है।

एक बलात्कारी की मानसिकता में स्त्री का हँसना अगर एक 'इन्वीटेशन' होता है, तो सख्त चेहरा उसकी मर्दानगी को एक 'चैलेंज'। अर्चना वर्मा की कहानी 'जोकर' में चपला और सुगंधा की बातचीत से यह सत्य प्रकट होता है। बलात्कार की एक सटीक परिभाषा देती हुई सुगंधा कहती है कि – "अगर स्त्री के मन पर अपनी स्त्री देह का अहसास हर समय एक दबाव की तरह बना रहता है, उसे रोकता, बांधता, बौना और भयभीत करता हुआ तो यह शारीरिक न सही, प्रतिक्षण एक मानसिक बलात्कार है उसके साथ।"[25] कंकू का यह प्रश्न भी सोचने पर मजबूर करता है कि – 'बलात्कार क्या ईश्वर है?' किशोरी कंकू का यह निष्कर्ष है कि विवाह का अर्थ है बलात्कार महोत्सव। विवाह बलात्कार पर टिकी संस्था है। यह भी उतना ही मथने वाला सवाल है जितना कि सुगंधा और चपला की बातचीत। एक फोटोग्राफर के साथ हुए अपने दुखद वाकये को याद करके मिसेज प्रतिमाकांत भी असहज रहने लगती हैं–

"किसी के साथ–भी बात करते–करते अचानक इस अहसास से घिर जाती कि यह मेरी बात नहीं सुन रहा, कपड़ों के भीतर एक स्त्री–देह भर देख रहा है। अपने साथ जाने कैसी घनघोर भीषण लड़ाई से गुजर रहा होगा बेचारा अभिशप्त। किसी भी क्षण डोर इसके हाथ में छूट जाएगी। हार जाएगा और हार का दंड मुझे देगा। बेचारा। अभिशप्त।"[26]

यह यौन–उत्पीड़क का मनोविज्ञान है। बलात्कारी अपने संयम, अपनी मनुष्यता को हारकर हीऐसे कुकृत्य पर उतारु होता है। दण्ड–विधान की कठोरता से अपराध समाप्त नहीं होते सिर्फ ज्यादा जटिल, अप्रत्यक्ष और क्रूर हो जाते हैं। बलात्कार एक शारीरिक कर्म ही नहीं जो होकर खत्म हो जाती है, बल्कि एक मानसिक विकलांगता है जो खत्म होने के बाद भी चलती रहती है। बलात्कार के जो मामले सनसनी नहीं बनते या जो उद्वेलन और आंदोलन पैदा नहीं करते या जिनमें बलात्कृत कमजोर और बलात्कारी ताकतवर वर्ग के होते हैं उनमें पीड़ित लड़की को दैहिक बलात्कार के बाद एक लंबा मानसिक बलात्कार झेलना पड़ता है। एक पीड़ित लड़की की यातना भरे इस मानसिक बलात्कार में पुलिस तो उसके साथ होती ही नहीं है। समाज भी साथ नहीं होता। रही मीडिया की बात तो यह मीडिया की सीमा है कि वह एक हद से आगे जाकर पक्षधरता की परिधि से बाहर खिसक जाता है। बलात्कार की शिकार लड़की और उसके परिजनों के सामने पुलिस, अदालत और फौरी तौर पर सहानुभूति प्रदर्शित करने वाले लोगों की भूमिकाएँ या तो पहले ही स्पष्ट होती है या घटना के बाद दुखद झटकों के रूप में उजागर होने लगती है। परिणामतः बलात्कार के मामले सजा के चरण तक पहुंचने से पहले ही दम तोड़ देते हैं। इस सारी प्रक्रिया में एक पहलू समाज के उस वर्ग का है जो नैतिकता को एक सतही आचरण से जोड़ देता है और कहता है कि लड़कियाँ भड़कीले, ललचाऊ, उत्तेजक परिधान क्यों पहनती हैं, क्यों सर उठाए वक्त–बेवक्त इधर–उधर निकल जाती हैं, क्यों पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में भटकती–थिरकती हैं और क्यों रात के दो बजे किसी ढाबे पर चाय पीने जा निकलने का दुस्साहस करती हैं। यह वर्ग यह कहना चाहता है कि अगर लड़कियाँ ऐसे काम करेंगी तो बलात्कार की शिकार तो होंगी ही। तो फिर न तो दोष बलात्कारी का, न पुलिस का, न शेष समाज का। उनके अनुसार'नैतिक' मर्यादाओं का उल्लंघन करने की सजा के रूप में ही बलात्कार घटता है। यह वह सोच है जो बलात्कार से भी अधिक घृणित और निंदनीय है। मगर जिस तरह आज बलात्कार का कोई त्वरित उपचार नहीं है, उसी तरह इस सोच का भी कोई 'रेडिमेड' उपचार नहीं है।

इतिहास साक्षी है कि हमारे यहाँ के बड़े युद्ध हों या छोटे शोरगुल – सभी में स्त्री की छेड़छाड़ की कहानियाँ भरपूर हैं। कभी अत्याचार को मनोरंजन का मनोहर रूप दे दिया गया। साथ ही सकारात्मक रूप में स्त्री का अंकन कभी नहीं किया गया। या तो वह देवी है, नहीं तो वह सेविका। या तो वह अछूती आभा है, नहीं तो सार्वजनिक काया। कहीं भी इसका जिक्र नहीं है कि वह भी ऐसी मनुष्य है जो रक्त–मांस से युक्त प्राणी है। अरूणा सीतेश की कहानी 'मोहरा' में पार्वती के साथ हुए बलात्कार की घटना से समाज के विभिन्न तबके के लोग किस तरह से अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं, देखा जा सकता है। श्रीमती अहलूवालिया ने चटपट पोस्टर छपवाए, पार्वती की फोटो का ब्लाक अपनी जेब से बनवाया और रातोंरात 'नारी उत्थान समिति' की अध्यक्षता में श्रीमती अहलूवालिया की नागरिकों से खुली अपील राजधानी के हर चौराहे पर खंभे पर लटक गयी। 'नारी का नारी के प्रति कर्तव्य' पर दो दिन का एक सेमिनार भी रात–दिन एक करके उन्होंने आयोजित कर डाला, जिसका उद्घाटन एक वरिष्ठ केंद्रीय मंत्री ने किया। पार्वती के नाम पर बाल्टियों आंसू बहाए गए। पार्वती जिसका बलात्कार एक पुलिस कांस्टेबल द्वारा किया जाता है वह महज एक इत्तेफाक नहीं था। बल्कि समाज के तथाकथित नेतागण, मंत्री, राजनेता आदि चुनाव के समय पुलिस कांस्टेबल द्वारा पार्वती का बलात्कार करवाकर लोगों की सहानुभूति जुटाते हैं। क्या हमारे देश का शासन–तंत्र यह कहता है कि अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए स्त्री–देह को मोहरा बनाया जाए। अक्सर यह देखने में आया है कि सदियों से हमारे देश में इस पुरुषवादी समाज ने अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए हमेशा स्त्री को ही माध्यम बनाया है। जो राजनेता अभी तक पार्वती के साथ हुई घटना पर सहानुभूति जता रहे थे, चुनाव खत्म होते ही उनका रूख बदल जाता है। क्या यह बलात्कार उसकी इच्छा से हुआ था? क्या पार्वती के साथ हुई घटना महज एक राजनीतिक मुद्दे के लिए हुई थी? पार्वती चुनाव से पहले लोगों की सहानुभूति का पात्र बनी हुई थी। चाहे वह समाज हो या परिवार सभी उसके प्रति सहानुभूति जता रहे थे और वही परिवार और समाज चुनाव खत्म होते ही उसके चरित्र पर शक करने लगता है। एक माँ भी अपनी बेटी के दुःख को नहीं समझ पाती है –

"कुलच्छनी। इत्ती इत्ती देर तक कहाँ घूमती–फिरती है? फिर कोई कांड हुआ तो डूब मरने का नाटक रचाएगी। आके सुना देगी कि कोई यार बचा लाया।"[27]

अरूणा सीतेश अपने वक्तव्य में सही कहती हैं कि 'आज भी समाज का ध्यान शिकारी पर नहीं, हलाल या घायल हुए शिकार पर केंद्रित होता है।' स्त्री को मात्र देह मानकर उसके शोषण का इतिहास नया नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि स्त्री की देह मानकर भी स्त्री को उसकी देह नहीं सौंपी गयी है। सुरक्षा और संरक्षण के नाम पर स्त्री–देह पिता और पति के पास गिरवी रही है। विवाह–पूर्व कौमार्य का मिथक पिता को और विवाह के बाद यौन–शुचिता पति को स्त्री–देह का स्वामित्व सौंपता है। विवाह संस्था में रोक कर रखने के लिए शुचिता का आतंक अकेले स्त्री को असंभव स्थिति बना देता है। इस आतंक से बाहर आकर स्त्री ने जब–जब कुछ और चाहा है उसकी कीमत देख कर वह अपने कदमों को लौटाती रही है। देह राग में डूबी कृष्णा सोबती की 'मित्रो–मरजानी' की मित्रो अपनी देह की आकांक्षा पूरी करना चाहती है तो परिवार में खलबली मच जाती है। मित्रो रूकती नहीं, यदि उम्र के उत्तरार्ध पर खड़ी उसकी माँ का वर्तमान भयावह भविष्य की शक्ल में उसके सामने खड़ा न हो गया होता। "अब इस ठठरी ठण्डी भट्टी का कोई वली वारिस नहीं, कोई मरे मनुक्ख का नाम भी नहीं।' देह कामना की कीमत से उसे मसान–सा सूना भांय–भांय करता घर भूतों के डेरे–सा दिखता है।"

हमारे समाज में विवाह संस्था के बाहर जिंदगी जीने की इच्छा, देह भोग की इच्छा एक बार के सुख के बदले उम्र भर सजा देता रहा है। फिर विकल्प के तौर पर स्त्री को मिलता है कोठा या आत्महत्या का प्रयास। देह का सुख स्त्री को सिर्फ आतंक ही देता है। देह के स्वामित्व और देह की छवि से पैसा कमाने की स्त्री की आकांक्षा को बाजार ने भी अपने हित में भुनाया है। स्त्री की इस स्वतंत्रता को सैक्स उद्योग ने हाथों–हाथ लपक लिया और फिर स्त्री खेल बन गयी। पुरुष ने अपने पौरुषीय बादलों के लिए देह का विषकन्या की तरह इस्तेमाल किया और 'हमजाद' जैसी रचनाओं का जन्म हुआ।

समझौते जिंदगी नष्ट कर देते हैं। इसलिए स्त्री ने इंकार की हिम्मत जुटाई है और सक्षम होने पर पति की ज्यादतियाँ सहने की अपेक्षा उसे घर से बाहर निकालने या स्वयं निकल जाने की हिम्मत भी दिखाई है। स्त्री की आजादी को, उसके बाहर आने को पुरुष ने अपनी तरह से भुनाया है। स्त्री ने बावजूद सारी छेड़छाड़, यौन शोषण, उत्पीड़न, बाजार में अपने उपयोग के अपने लिए पैर जमाने लायक जमीन तलाश ही ली है। अपने 'आत्म' की पहचान के लिए उसे मालूम है कि बाहर निकलना जरूरी है। यह बाहर निकलना वापिस लौटने के लिए नहीं है। परिवार और कैरिअर में से यदि एक ही चुनने का उसे अधिकार है तो वह रूक कर सोचने लगी है। परिवार में यदि गुंजाइश बनती है, पति बदलता है तो ठीक अन्यथा अब वह अपने लिए भी सोचना चाहती है। मंजुल भगत की 'दौड़' की तरह वह पति के पीछे बार–बार अपनी जड़ें उखाड़ने को तैयार नहीं। उसने परिवार की 'एक छत और एक पैसा' की परिभाषा को बदला है। अकेले रहने का विकल्प यदि मजबूरी में भी उसके हिस्से में आया है तो अब वह हारना नहीं चाहती। 'अनारो' बन कर वह बर्तन माँज कर अपने लिए जगह बना सकती है तो 'सुन्नर पांडे की पतोह' बन कर बलात्कार की कोशिश करने वाले की ऊँगलियाँ भी काट सकती है। 'इदन्नम' की 'मंदा' बन कर गांव वालों को आत्मनिर्भर बना सकती है। खुद आत्मनिर्भर हो सकती है। देह और सम के धरातल पर स्वतंत्रता की मांग करती यह स्त्री सुरक्षा के व्यामोह से बाहर आई है, यह समझौतों में अपनी जिंदगी नष्ट नहीं करती। इंकार की ताकत पहचानती है। अपने लिए निर्णय लेना चाहती है और उनके परिणामों को भुगतने के लिए भी तैयार है।

यह सच है कि समाज ने अपनी हाय–तौबा नहीं छोड़ी है। 'अनारो' को पति ने भाई सर्टिफिकेट दे दिया है। वह 'वर्षा वशिष्ठ' बनी है तो उसे वंश परंपरा का ठेका दिया है, 'शुभ्रा' बनी है तो देह के खतरे दिखा–दिखा कर विवाह संस्था में वापिस भेज दिया है यह जानते हुए भी कि ऐसा करके 'शुभ्रा' का व्यक्तित्व मर जाएगा। 'मालविका' पर अहसान लादते हुए 'देने' का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखा है। 'मित्रो' को भविष्य का डर दिखाया है। लेकिन स्त्री

ने अब जाना है कि बिछौने के 'सुख' और उसकी 'ताकत' के अलावा भी शक्ति के स्रोत हैं। जहाँ से अपने लिए जगह बनाई जा सकती है जो बौद्धिक और मानसिक विकास से संभव है। 'मर्दों के विधान' से बाहर निकली इन स्त्रियों पर आरोप लगाना लाज़मी है कि महानगरों की चुनिंदा स्त्रियों को मिली यह आजादी हमारी आधी दुनिया का प्रतिनिधित्व नहीं करती। अधिकांश स्त्रियों को इस आजादी का पता ही नहीं, देश की अधिकांश स्त्रियाँ यदि घरेलू गुलाम हैं तो सत्ता–पुरुषों को इन थोड़ी–सी स्त्रियों की आजादी से भला क्या नुकसान हो सकता है।

महत्वपूर्ण यह है कि नगण्य ही सही, स्त्रियों ने अपने लिए सांस लेने की जगह तो बनाई है। ये थोड़ी सी स्त्रियाँ, पितृसत्ता से बाहर जाती स्त्रियाँ, बोलती हुई स्त्रियाँ, इंकार करती स्त्रियाँ निश्चय ही नींव का पत्थर साबित होंगी। व्यक्तिगत विद्रोह की अभिव्यक्ति सामाजिक विद्रोह का पर्याय भले ही न बने संभावना अवश्य बनती है। ये अपवाद हो सकती है परंतु क्रमागत व्यवस्था के विरुद्ध किसी नवीन परिवर्तन को ले जाने का श्रेय ऐसे अपवादों को ही मिलता है क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के बिना हम किसी असंभाव्य को संभव नहीं समझ पाते।

संदर्भ–संकेत

1 नहीं–S बाबू जी–S नहीं–SS (देह देहरी) – कमल कुमार, पृ.120

2 बिलाव (देह देहरी) – नासिरा शर्मा, पृ.77

3 वही, पृ.74

4 निर्णय के बाद (देह देहरी) – डा. स्नेह मोहनीश, पृ.151

5 तुक (देह देहरी) – मृदुला गर्ग, पृ.19

6 वही, पृ.19

7 वही, पृ.16

8 वही, पृ.15

9 खूबसूरत लिफाफा... बनाम फूल सरसों की हंसती फसल (देह देहरी) – दुर्गा हाकरे, पृ.185

10 चीख (देह देहरी) – उर्मिला शिरीष, पृ.144

11 वही, पृ.150

12 प्रेत योनि (देह देहरी) – चित्रा मुद्गल पृ.281

13 आवाज (देह देहरी) – चंद्रकांता, पृ.43

14 वही, पृ.47

15 हंस : जनवरी–फरवरी 2000, अरविंद जैन, पृ.174

16 गुलामी का आनंद और स्वतंत्रता के खतरे – राजेंद्र यादव, पृ.139

17 वही, पृ.140

18 वही, 142

19 परतें (देह देहरी) – राजी सेठ, पृ.33

20 खूबसूरत लिफाफा... बनाम फूल सरसों की हंसती फसल (देह देहरी) – दुर्गा हाकरे, पृ.189

21 गुलामी का आनंद और स्वतंत्रता के खतरे – राजेंद्र यादव, पृ.142

22 वही, 142

23 जोकर (देह देहरी) – अर्चना वर्मा, पृ.107

24 देह देहरी (भूमिका से) – चित्रा मुद्गल

25 जोकर (देह देहरी) – अर्चना वर्मा, पृ.99

26 वही, पृ.108

27 मोहरा (देह देहरी) – अरूणा सीतेश, पृ.213

उपसंहार

प्रेमचंद के काल से ही स्त्री और उसकी समस्याएँ हिन्दी उपन्यासों का उपजीव्य रही हैं एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नये लेखकों ने भी अपने लेखन में इसे सम्यक् स्थान दिया है। लेकिन इस काल में अर्थात् नई कहानी आंदोलन के दौर में महिला लेखिकाओं का ऐसा वर्ग उभर कर सामने आता है, जिसने विशेष रूप से स्त्री और उसकी विविध समस्याओं को केंद्र में रखते हुए अपने कथा–साहित्य का ताना–बाना खड़ा किया। मन्नू भंडारी, उषा प्रियंबदा, कृष्णा सोबती, अर्चना वर्मा, सिम्मी हर्षिता, उर्मिला शिरीष, लवलीन, ममता कालिया जैसी महिला लेखिकाओं ने सशक्त रूप से भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति और उसकी अस्मिता के सवाल को अपने कथा–साहित्य के माध्यम से उठाया है। इन्हीं महिला लेखिकाओं की शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी हैं – चित्रा मुद्गल, जिनके संपादन में प्रकाशित 'देह देहरी' की कहानियाँ स्त्री जीवन की एक नई तस्वीर से परिचित कराती हैं।

स्त्री–पुरुष समता के सारे आदर्शों और आधुनिक प्रजातांत्रिक चेतना के बावजूद आज भी स्त्री शोषित और पीड़ित है। इसका मूल कारण वेद–पुराण, संहिताएँ, सामाजिक ग्रंथों की उन शिक्षाओं में ढूंढा जा सकता है, जहाँ स्त्री को सर्वत्र अन्या की भूमिका प्रदान की गई है। साथ ही साथ आर्थिक पराधीनता भी इसका बहुत बड़ा कारण है। इन धर्मग्रंथों के अनुसार कोई भी स्त्री तभी सराहनीय है जब वह मां, बेटी या पत्नी, किसी न किसी रूप में पुरुष के अधीन हो।

स्त्रियों को भी इस तरह शिक्षा–दीक्षा दी जाती कि वो पुरुष को ही अपना रक्षक मानती हैं। इन रूपों में पुरुष ही हमारा रक्षक है, यह धारणा स्त्रियों के जातीय सामूहिक अवचेतन में इतनी अधिक रची–बसी है कि स्त्रियाँ इससे भिन्न सोच ही नहीं पाती। स्त्रियाँ अधीनता और शोषण को ही अपनी नियति मान लें, इसके लिए पुरुषों ने समय–समय पर तरह–तरह का हथकंडा अपनाया है। तमाम सीमाओं के बावजूद परंपरावादी आचार संहिताओं के विरुद्ध

स्त्री मन का विद्रोह उसके एक स्वस्थ स्वाभाविक जीवन की उत्कट आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता है। *समकालीन हिंदी कहानी में स्त्री–विमर्श : संदर्भ 'देह देहरी'* नामक अपने इस लघु शोध-प्रबंध में मैंने कहानियों का विवेचन–विश्लेषण इसी सत्य को ध्यान में रखकर करने का प्रयास किया है।

सही अर्थों में स्त्री–विमर्श स्त्रियों की जिंदगी को लेकर स्त्रियों द्वारा किया गया विचार ही है। पश्चिम में इसकी शुरुआत 1960 में स्त्रियों के मताधिकार के अधिकार के लिए किए गए आंदोलन से मानी जाती है। लेकिन यह सफलता एक लंबे राजनीतिक संघर्ष के कठिन परिश्रम से ही मिल सकी। इस आंदोलन में लोगों ने सामाजिक और राजनैतिक दोनों तरह के मुद्दों को उठाया और आंदोलन ने स्त्रियों के सौंदर्य प्रतियोगिताओं का जमकर विरोध किया। उनका मानना था कि इस तरह की तथाकथित सौंदर्य प्रतियोगिताओं का असली उद्देश्य पुरुषों के भोग–विलास के लिए स्त्री शरीर का प्रदर्शन है। साथ ही गर्भपात करवाने और यौनिक उत्पीड़न के डर से मुक्त रहने के मौलिक अधिकार की मांग करते हुए समाज को यह मानने के लिए मजबूर किया गया कि महिलाओं द्वारा घर पर किया गया काम मुफ्त या अवैतनिक नहीं है। भारत में 19वीं सदी के शुरुआत में कितनी ही महिलाओं के खून, पसीने, आँसुओं, अंतर्दृष्टियों, सपनों, विचारों और शक्तियों से इस आंदोलन का निर्माण हुआ। इस आंदोलन की नींव में दलित, कामकाजी, मजदूर, निम्न मध्यम एवं उच्च मध्यवर्ग सभी का योगदान है। इसकी जड़ें वे छोटे–छोटे अनौपचारिक महिला समूह हैं जो साथ–साथ काम करते हुए या आस–पड़ोस की महिलाएँ स्वतः बना लेती हैं। ये बिना किसी घोषित संगठन के आपसी सुख–दुख बांटती हैं, एक–दूसरे को सहारा, संबल देती हैं। आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण पहलू रहा आम औरत से रिश्ता और जुड़ाव, साथ ही इसमें महिलाओं के रोजमर्रा के जीवन से जुड़ी समस्याओं को उठाया गया। भारतीय नवजागरण के दौरान समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह और लड़कियों के विवाह की आयु से जुड़ी समस्याओं के साथ शिक्षा के लिए भी प्रयास किए गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्री–विमर्श का भारतीय स्वरूप

पाश्चात्य स्वरूप से भिन्न रहा है। पश्चिम में जहाँ परिवार से बाहर अपनी अस्मिता की तलाश की गई, वहीं भारत में परिवार के भीतर ही अस्तित्व के स्वीकार की मांग से यह विमर्श उभरा।

चित्रा मुद्गल द्वारा संपादित 'देह देहरी' की कहानियों में चित्रित स्त्री–उत्पीड़न के स्वरूप को दो कोणों से देखा जा सकता है – यौन–उत्पीड़न की कहानियाँ और इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पीड़नों की कहानियाँ। दोनों तरह के उत्पीड़न का शिकार वह परिवार के अंदर भी बनती है और बाहर भी। यौनेतर उत्पीड़न की कहानियों में कार्य–स्थलों की समस्याओं तथा अन्य सामाजिक, व्यवस्थापरक तथा मानसिक उत्पीड़नों को दिखाया गया है। निश्चय ही स्त्री के उत्पीड़न की संभावना ज्यादातर उसकी आर्थिक पराधीनता या आर्थिक परनिर्भरता से जन्म लेती है, परंतु यही एकमात्र कारण नहीं है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियाँ भी उत्पीड़ितों में शामिल है। 'जांच अभी जारी है' की अपर्णा के समक्ष आर्थिक सुरक्षा की समस्या नहीं हैं लेकिन वह उत्पीड़ित है। दरअसल उत्पीड़न का पूरा मामला एक बहुस्तरीय व्यवस्थागत ढांचे का मामला है, जिसमें कई जगहों पर चोट की आवश्यकता है। एक बात और गौरतलब है कि उत्पीड़न के कई उदाहरणों में स्वयं स्त्री ही स्त्री के विरुद्ध षड्यंत्रकर्ता की ('खूबसूरत लिफाफा बनाम.... फूल सरसों की हँसती फसल' कहानी की चंपा ठाकुर) या अभियोजक तथा असहयोगी (विभिन्न कहानियों में परिवार और पड़ोस की स्त्रियाँ) की भूमिका में दिख जाती हैं। जब तक विभिन्न तरहों से उत्पीड़ित स्त्री की पीड़ा समाज तथा परिवार की स्त्रियों द्वारा समझी नहीं जाएगी और जब तक बलात्कार या यौन–उत्पीड़न की पुरुष बर्बरता की सदियों से चली आ रही षड्यंत्रकारी मानसिकता को समझकर उसे तार–तार नहीं कर दिया जाता है, तब तक स्त्री की यह त्रासद नियति बनी रहेगी। पुरुषवादी सामाजिक व्यवस्था ने जिस पक्षपातपूर्ण ढंग से स्त्री को संपत्ति के अर्जन और उत्तराधिकार से बेदखल कर उसे शरीर–मात्र की पक्षपाती नैतिकता से जोड़कर रख दिया, उसे समझने की जरूरत है। 'यौन शुचिता' और 'अक्षत कौमार्य' की अवधारणा के नैतिक औचित्य पर कोई सवाल खड़ा किए बिना भी यह सवाल

आखिर उठता ही है कि यह मानदंड या अवधारणा मात्र स्त्री के लिए ही क्यों? पुरुष के लिए क्यों नहीं?

स्त्री के दोयम दर्जे को येन–केन–प्रकारेण बनाए रखने का पुरुष–प्रयत्न जीवन के विभिन्न मोर्चों पर दिखता रहा है। यह मानकर और मनवाकर चला गया है कि पुरुष जन्मजात श्रेष्ठ है और स्त्री जन्मजात हीन। ऐसे तमाम उपाय और लिखित या अलिखित विधान भी रचे गए कि स्त्री अगर (एकपक्षीय रूप से पुरुषों के प्रति) सेवा, समर्पण, त्याग, निष्ठा आदि मूल्यों से डिगती है या फिर 'पुरुषोचित' कार्य क्षेत्र में संलग्न होती है तो उसे इस पतनोन्मुखता या दुस्साहस का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दण्ड प्राप्त हो, जैसा 'जांच अभी जारी है' की अपर्णा के साथ होता भी है। इस क्रम में व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंगों की भूमिका भी देखी जा सकती है। विभिन्न कहानियों में पुलिस की भूमिका से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री के उत्पीड़न में समाज के रक्षक का वैध दायित्व निभाने वाले स्त्री के शोषण में सहयोग करते हैं। दूसरी ओर, अदालत की प्रक्रिया का जो हवाला पुलिस देती है, वह भी असंगत नहीं है। अदालत में उत्पीड़न की शिकार स्त्रियों से बचाव पक्ष के वकील जिस तरह के प्रश्न करते हैं, वह टूटी हुई स्त्री को और बिखरा देता है। इसके साथ–साथ इस षड्यंत्रकारी प्रक्रिया में मीडिया की भूमिका का मूल्यांकन भी आवश्यक है। स्त्री–उत्पीड़न की घटनाओं के साथ मीडिया का रुख अक्सर सहानुभूतिपूर्ण नहीं होता। ऐसी खबरों को जायकेदार अंदाज में प्रस्तुत कर मीडिया इसे सनसनीखेज अवश्य बनाता है, परंतु उत्पीड़ित पर इसकी सामाजिक प्रतिक्रिया नकारात्मक होती है। इस प्रकार स्त्री के यौन–उत्पीड़न या अन्य तरह के उत्पीड़नों में एक पूरा–का–पूरा तंत्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योगदान करता है। प्रत्यक्ष घटनाओं से लेकर अप्रत्यक्ष मानसिकता के निर्माण तक की इस पूरी प्रक्रिया के अलग–अलग तत्वों की भूमिका को पहचान कर और उनके विरुद्ध प्रत्यक्ष और मानसिक लड़ाई लड़कर ही स्त्री अपनी वर्तमान दशा से उबर सकती है।

'देह देहरी' की कहानियों में आई विभिन्न समाजार्थिक वर्ग की बच्चियों, किशोरियों, स्त्रियों के यौन–उत्पीड़न और उसके परिणाम–प्रभाव से यह स्पष्ट

होता है कि नारी का भाग्य उसके माथे पर नहीं, बल्कि देह की उठान और कटावों पर लिखा होता है। उसके आशंकित, विघटित, भविष्य के सूत्र ज्यादातर शरीर से जुड़े होते हैं। इस संदर्भ में एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि उत्पीड़ित और उत्पीड़क की एकल श्रेणियाँ ही हैं – स्त्री और पुरुष। उम्र, रिश्ते, नाते, जाति, धर्म या सामाजिक–आर्थिक स्तर इस उत्पीड़न में कहीं आड़े नहीं आता – बस पुरुष–बर्बरता को ठाँव लगने की देर है। यौन–उत्पीड़न की कुत्सित पाशविक पुरुष मानसिकता को सबसे बड़ा बल इस बात से मिलता है कि उत्पीड़ित अपने को सामाजिक और मानसिक रूप से बिखरा–टूटा महसूस करेगी। एक तो वह शर्म से मुँह नहीं खोलेगी और यदि यह दुस्साहस कर भी ले तो सामाजिक अवचेतन में जो तथाकथित नैतिकता सदियों से ठोक–पीटकर बैठाई जाती रही है, वह उस स्त्री को पतित या 'लुटी इज्जत वाली' तो घोषित कर ही देगी। आज जरूरत है कि पहले स्वयं स्त्री इस विघटनकारी मानसिकता से मुक्त हो कि शारीरिक उत्पीड़न से उसके चरित्र या नैतिकता में कोई खामी आ गई, उसकी इज्जत चली गई या इसमें उसका कोई दोष है। मैत्रेयी पुष्पा ने ठीक ही कहा कि "पुरुष को सामाजिक विरासत में मिला अहंकार ऐसी सोच दे सकता है कि मैंने अपनी शारीरिक शक्ति पुरुषत्व का शौर्य देकर विरोधी सेक्स का शिकार किया है। मगर मैं शर्मसार हूँ, मैं अपवित्र हूँ, कलंकित हूँ.... इन कुंठाओं में औरत क्यों जिए?"[1]

'देह देहरी' की कहानियाँ इस यथार्थ पर जोर देती हैं कि बलात्कार एक शारीरिक हिंसा है। इसे स्त्री के चरित्र या उसकी अस्मिता से जोड़ देना पुरुषवादी समाज का षड्यंत्र है। इसका फल यह होता है कि अपराधी सामाजिक या वैधानिक दण्ड पाने की बजाय तथाकथित 'पौरुष' का तमगा लटकाए मजे में घूमता है और उत्पीड़ित स्त्री सामाजिक लांछना से उत्पन्न मानसिक यंत्रणा की सजा आजीवन भोगती है।

---

1 समकालीन साहित्य और नारी, प्रलेस, राष्ट्रीय सम्मेलन, नई दिल्ली में 13.11.1994 को पढ़ा गया पर्चा।

इन कहानियों में वर्णित दशाओं से संभावना की एक केंद्रीय दिशा मिलती है कि सृष्टि की बराबर की साझीदार – स्त्री – को अपनी गैर–बराबरी और उत्पीड़न की स्थिति के सर्जक एवं पोषक पुरुष वर्ग से कुछ उम्मीद पालने से पहले स्वयं अपने आत्मबल को समेटना होगा। पुरुषवादी सामाजिक–नैतिक व्यवस्था की कुटिल व्यूह–रचना को पहचान कर अपने को बिखरने से बचाना होगा। इसके बाद ही स्त्री के उत्पीड़न–तंत्र के विभिन्न घटकों से सबल एवं सार्थक वैचारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, कानूनी और राजनीतिक लड़ाई लड़ी जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'देह देहरी' की कहानियाँ स्त्री–जीवन के सबसे बड़े यथार्थ – यौन–उत्पीड़न – के सामाजिक–पारिवारिक संदर्भों की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। इन कहानियों पर विचार करते समय यह सवाल बार–बार उठता है कि वह मनोविज्ञान क्या है जो परिवार और समाज में स्त्री के यौन–उत्पीड़न का शास्त्र रचता है? खासकर तब, जब एक पिता अपनी पुत्री के साथ बलात्कार करता है। जैव–वैज्ञानिक इसे एक जैविक प्रक्रिया मानते हैं। जहाँ एक पुरुष के लिए स्त्री का शरीर, सिर्फ एक देह और देह के साथ खिलवाड़ करना उसकी मनोवृति। पर इस मनोवृति का अर्थ क्या है? क्यों इस प्रकार की मनोवृतियाँ समानता के इतिहास में मनुष्य समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बनती हैं और वहाँ संस्कार, मिथक बुत–सा खड़ा रहता है। 'देह देहरी' की कहानियाँ स्त्री समाज के उत्पीड़न के इस संसार को खोलती हैं, हमारे सामने खड़ा करती हैं, बहस और विमर्श के लिए प्रेरित करती हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ :

चित्रा मुद्गल (सं.) : *'देह देहरी'*, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 2003

सहायक ग्रंथ :

(क) सर्जनात्मक रचनाएं :

रचनाकार		रचना	प्रकाशन
चौधरी, सोना	:	*पायदान (उपन्यास)*	इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000
प्रियम्बदा, उषा	:	*जिंदगी और गुलाब के फूल*	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1976
		कितना बड़ा झूठ	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1972
		एक कोई दूसरा (कहानी संग्रह)	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978
भंडारी, मन्नू	:	*यही सच है (कहानी संग्रह)*	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966
		एक प्लेट सैलाब (कहानी संग्रह)	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1968
		मैं हार गयी (कहानी संग्रह)	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1957
मुद्गल, चित्रा	:	*ग्यारह लम्बी कहानियाँ (कहानी संग्रह)*	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
		लाक्षागृह (कहानी संग्रह)	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987

मुद्गल, चित्रा		*जरा ठहरा हुआ है (कहानी संग्रह)*	अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980
		इस दमाम में (कहानी संग्रह)	प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
		अपनी वापसी (कहानी संग्रह)	संभावना प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983
सोबती, कृष्णा	:	*मित्रो मरजानी (कहानी संग्रह)*	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966
		बादलों के घेरे (कहानी संग्रह)	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980

(ख) आलोचनात्मक ग्रंथ :

रचनाकार		रचना	प्रकाशन
अनामिका	:	**स्त्रीत्व का मानचित्र**	सारांश प्रकाशन, मयूर विहार, नई दिल्ली, 1999
एक अज्ञात हिंदू औरत	:	**सीमन्तनी उपदेश**	शेष साहित्य प्रकाशन, नोएडा, उत्तर प्रदेश, 1998
कपूर, प्रमिला	:	**भारत में विवाह और कामकाजी महिलाएं**	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976
कात्यायनी	:	**दुर्ग द्वार पर दस्तक**	परिकल्पना प्रकाशन, विश्वास खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ 1997
कापड़िया, कुंदनिका	:	**दीवारों के पार आकाश**	साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1994

खेतान, प्रभा	:	**स्त्री उपेक्षिता (द सेकेंड सेक्स – सिमोन द बुआ, का अनुवाद)**	हिंदी पॉकेट बुक्स प्राइवेट लि., नई दिल्ली, 2002
गुप्ता, उर्मिला	:	**हिंदी कथा साहित्य के विकास में महिलाओं का योग**	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
ग्रेयर, जर्मेन	:	**विद्रोही स्त्री**	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
चतुर्वेदी, जगदीश्वर	:	**स्त्रीवादी साहित्य विमर्श**	अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दरियागंज, नई दिल्ली, 2000
चौबे, देवेन्द्र	:	**समकालीन कहानी का समाजशास्त्र**	प्रकाशन संस्थान दरियागंज, नई दिल्ली, 2001
जैन, अरविंद	:	**औरत होने की सजा**	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
		औरत : अस्तित्व और अस्मिता (महिला लेखन का समाजशास्त्रीय अध्ययन)	सारांश प्रकाशन, मयूर बिहार, फेज–1, नई दिल्ली, 2002
त्रिपाठी, चन्द्रबली	:	**भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास**	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1967
देसाई, नीरा	:	**भारतीय समाज में नारी**	मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, 1982
पाण्डे, मृणाल	:	**परिधि पर स्त्री**	राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी रोड़, दरियागंज, दिल्ली, 1999

पाण्डे, मृणाल		स्त्रीः देह की राजनीति से देश की राजनीति तक	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
मिल, जानस्टुअर्ट अनु. प्रगति सक्सेना	:	स्त्रियों की पराधीनता	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1969
यादव, राजेंद्र	:	औरों के बहाने : व्यक्ति चित्र	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1981
		आदमी की निगाह में औरत	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
		गुलामी का आनंद और स्वतंत्रता के खतरे (कांटे की बात–3)	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
राज किशोर	:	स्त्री के लिए जगह	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
		स्त्री, परंपरा और आधुनिकता	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
		स्त्री–पुरुष : कुछ पुनर्विचार	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
रैणा, कृष्णा	:	हिंदी कथा साहित्य : विविध संदर्भ	विभूति प्रकाशन, 1987 इलाहाबाद
वर्मा, महादेवी	:	अतीत के चलचित्र	भारती भण्डार, इलाहाबाद, 1954
		शृंखला की कड़ियाँ	लोकभारती पेपर बैक, इलाहाबाद, 1942
		स्मृति की रेखाएं	लोकभारती पेपर बैक, इलाहाबाद, 1989
व्होरा, आशा रानी	:	भारतीय नारी दशा और दिशा	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, 1983

व्होरा, आशा रानी		**नारी विद्रोह के भारतीय मंच**	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1981
		नारी शोषण : आइने और आयाम	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1982
शर्मा, नासिरा	:	**औरत के लिए औरत**	सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
शर्मा, क्षमा	:	**स्त्री का समय**	मेधा बुक्स एक्स, शाहदरा, दिल्ली, 1998
शुक्ल, कमल	:	**नारी नीति–सार**	सुयोग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
शुक्ला, उमा	:	**भारतीय नारी : अस्मिता की पहचान**	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994
श्रीवास्तव, सुधारानी	:	**भारत में महिलाओं की वैचारिक स्थिति**	कॉमनवेल्थ पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1993
सर्राफ, रामकली	:	**समकालीन हिंदी कथा लेखिकाएं**	अनुराग प्रकाशन, 1982 नई दिल्ली
सिंहल, लता	:	**भारतीय संस्कृति में नारी**	परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1991
साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता	:	**नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे**	हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 2001

पत्र–पत्रिकाएं :

आउट लुक	सं. – आलोक मेहता	दिल्ली, सितंबर, 2003
आलोचना	सं. – परमानंद श्रीवास्तव	दिल्ली, जनवरी–मार्च, 2001

इंडिया टुडे	सं. – प्रभु चावला, साहित्य वार्षिकी विशेषांक	दिल्ली, 2002
समकालीन जनमत	सं. – सुधीर सुमन	पटना, जनवरी–मार्च, 2002
वर्तमान साहित्य	सं. – उपेन्द्रनाथ अश्क, कहानी महाविशेषांक	गाजियाबाद, अप्रैल, 1991
वसुधा,	सं. – कमला प्रसाद	अंक विशेषांक– 59–60 , भोपाल, 2003
हंस	सं. – राजेंद्र यादव	दिल्ली, जनवरी–फरवरी, 2000
हंस	सं. – राजेंद्र यादव	दिल्ली, जून, 2003
हंस	सं. – राजेंद्र यादव	दिल्ली, मार्च, 2004